प्रौढ़ शिक्षा

अक्टूबर–दिसम्बर 2017
वर्ष 61 अंक–4

सम्पादक मण्डल

प्रो. भवानीशंकर गर्ग
(सरंक्षक)

श्री मृणाल पंत
श्री ए.एच.खान
डा. सरोज गर्ग
श्री दुर्लभ चेतिया
डा. डी.के.वर्मा
डा. उषा राय
डा. मदन सिंह
श्री एस.सी. खंडेलवाल
श्री राजेन्द्र जोशी

प्रधान संपादक
श्री कैलाश चौधरी

सम्पादक
डा. मदन सिंह

सहायक सम्पादक
बी. संजय

इस अंक में

सम्पादकीय

जीवनपर्यन्त शिक्षा और जीवन विकास
– भवानी शंकर गर्ग 5

जीवन प्रबंधन एवं गीता की सार्थकता
– भावना ठुकराल 9

लगाव – लधुकथा 14

शिक्षा सुधार का आधार
–जगमोहन सिंह राजपूत 15

उत्तराखण्ड के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका व योगदान (20वीं शताब्दी)
शिवाणी राणा चन्देल 18

गीत का अर्थ और अनर्थ
ऋृषिवंश 22

गांधी और सहकारिकता
आलोक कुमार 33

हमारे लेखक 36

मूल्यः रूपये 200/–वार्षिक

पत्रिका में व्यक्त लेखकों के विचार उनके वैयक्तिक विचार हैं, जिनके लिए संघ एवं सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है ।

IIALE
Program Study Centre 29049(P)

International Institute of Adult and Lifelong Education (IIALE) is study centre for Indira Gandhi National Open University (IGNOU) (Centre Code: 29049P) which will function from 17-B, I P Estate, New Delhi – 110 002. The Centre will start function soon and the courses to be offered are:

1. Master of Arts in Adult Education (MAAE)
2. Post-Graduate Diploma in Adult Education (PGDAE)
3. Post Graduate Certificate in Adult Education (PGCAE)

Students interested to enroll themselves for the above courses can contact the Programme In-charge Smt. Kalpana Kaushik on the following address:

International Institute of Adult and Lifelong Education (IIALE)
C/o Indian Adult Education Association
17-B, Indraprastha Estate, New Delhi – 110 002
Phone Nos. 91-11-23379306, 23378436, 23379282

सम्पादकीय

समूची शिक्षा व्यवस्था पर पड़ सकता है प्रतिकूल असर

वैश्विक ग्राम की कल्पना के साथ–साथ यह विचार भी जेहन में आता है कि विकास किसी क्षेत्र विशेष की आवश्यकता नहीं बल्कि समूची दुनिया की सांझी जरुरत है। इसलिए वैश्विक स्तर पर इस दिशा में सतत् सामुहिक प्रयास किया जा रहा है। वर्तमान विश्व की सार्वभौमिक विकास की दिशा में किए जा रहे प्रयास 'एजेंडा–2030' द्वारा निर्देशित हैं। भारत सहित दुनिया के 193 देशों द्वारा अनुमोदित इस एजेंडा के तहत 17 लक्ष्य तथा 169 उपलक्ष्य निर्धारित किए गए हैं जिन्हें 2016–2030 की अवधि में साकार किया जाना है।

'एजेंडा–2030' के अन्तर्गत उल्लेखित चौथा लक्ष्य दुनिया के शैक्षिक विकास से संबंधित है जिसका उद्देश्य 'समावेशी और न्यायसंगत गुणवत्ता युक्त शिक्षा सुनिश्चित करने के साथ ही सभी को सीखने का अवसर देना' है। हाल ही में यूनेस्को द्वारा ग्लोबल एजुकेशन मॉनिटरिंग रिपोर्ट – 2017 प्रकाशित किया गया है। यह रिपोर्ट कहता है कि सन् 2000 के बाद से निम्न तथा निम्न मध्यमवर्गीय आय वाले देशों ने अपने शिक्षा व्यय में लगातार बढ़ोतरी की है। बावजूद इसके इन देशों को सन् 2030 तक के लिए निर्धारित शैक्षिक लक्ष्य को प्राप्त करने में भारी आर्थिक अभाव का सामना करना पड़ सकता है।

वर्ल्ड बैंक के अनुसार 1005 डॉलर या उससे कम प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय वाले अफगानिस्तान, जिम्बाब्वे, सोमालिया जैसे देशों को निम्न आय वाले देश कहा जाता है। इस श्रेणी में विश्व के 31 देश आते हैं। 1006 से 3955 डॉलर के बीच प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय वाले देशों को निम्न मध्यम वर्गीय आय वाले देश कहा जाता है। इस श्रेणी में भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश जैसे दुनिया के 53 देश आते हैं।

यूनेस्को और वर्ल्ड बैंक के एक ताजा अनुमान के अनुसार 'एजेंडा–2030' के चौथे लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष इन देशों को लगभग 39 बिलियन अमेरिकी डालर की कमी का सामना करना होगा। कम आय वाले देशों के लिए यह राशि सन् 2016 में उनके द्वारा सभी बच्चों को प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा पर किए गए कुल खर्च का लगभग 42 प्रतिशत है। यूनेस्को का मानना है कि ऐसे में इन देशों को शिक्षा के

लिए प्रदान किए जाने वाले वैश्विक सहायता राशि सन् 2012 में किए गए मदद से लगभग 6 गुणा बढ़ाने की जरुरत होगी।

चिन्ता की बात यह है कि शिक्षा हेतु की जाने वाली मदद में लगातार गिरावट दर्ज की जा रही है। सन् 2010 से 2015 के दौरान ग्लोबल ऑफिसियल डेवलपमेंट अस्सिटेन्स (ODA) में लगभग 24 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। बावजूद इसके शिक्षा विशेषरुप से मौलिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली मदद में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई।

मौलिक शिक्षा के लिए सर्वाधिक सहयोग सन् 2010 में ही दर्ज हुई। विदित है कि यहां मौलिक शिक्षा के अन्तर्गत प्रौढ़ शिक्षा हेतु प्रदान की जाने वाली मदद भी शामिल है। सन् 2010 के बाद से अब तक इस मद में कमी ही होती जा रही है। सन् 2011–12 में वैश्विक स्तर पर होने वाली आर्थिक मंदी को इसका मुख्य कारण बताया गया था। इसके बाद सन् 2014–15 में उसमें 500 मिलियन डॉलर अर्थात 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और यह राशि 12 बिलियन डॉलर पर पहुंच गई। लेकिन शिक्षा पर होने वाली मदद में तब भी सन् 2010 की तुलना में 4 प्रतिशत की कमी थी। 'एजेंडा–2030' के चौथे लक्ष्य को पूरा करने के लिहाज से यह कहीं कम है।

यदि भारत की बात करें तो 2 नवम्बर 2017 को पेरिस में आयोजित यूनेस्को की 39वीं आम सभा में बयान देते हुए केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री श्री प्रकाश जावडेकर ने कहा है कि भारत सरकार एसडीजी–एजुकेशन–2030 के संदर्भ में शिक्षा विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए यह मानती है कि वित्तपोषण में उत्तरदायित्व बहुत आवश्यक है। उन्होंने यह भी कहा कि भारत सरकार सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 4.5 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च कर रही है।

विदित है कि दशकों से यह मांग किया जाता रहा है कि शिक्षा व्यय सकल घरेलू उत्पाद का न्यूनतम 6 प्रतिशत होना चाहिए। पर अभी भी इसे लागू नहीं किया जा सका है। ऐसे में देश की समूची शिक्षा व्यवस्था विशेष रुप से प्रौढ़ और आजीवन शिक्षा क्षेत्र पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है। आवश्यकता है कि सार्वभौमिक विकास के मदद्‌नजर ऐसा ना हो इसका हर संभव प्रयास किया जाए।

– बी. संजय

जीवनपर्यन्त शिक्षा और जीवन विकास

भवानी शंकर गर्ग

जीवनपर्यन्त शिक्षा एक सर्वव्यापक अवधारणा है जिसका तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में निरंतर ज्ञान अर्जित करते रहना है। यदि सामान्य अर्थों में कहा जाए तो यह माना जा सकता है कि सीखना कभी समाप्त नहीं होना चाहिए। इसे निरंतर जारी रखना चाहिए। सामान्यतः यही माना जाता रहा है कि युवाकाल की आयु शिक्षा अर्जन करने के लिए उपयुक्त होती है। लेकिन, यह अवधारणा अब स्वीकार्य नहीं है क्योंकि निश्चित काल में प्राप्त की गयी शिक्षा रोजगार प्रदान करने में मददगार तो होती है पर वह स्वयं में सुधार करने तथा किसी व्यक्ति के उन सपनों को पूरा करने का अवसर प्रदान नहीं कर पाती जो सपने औपचारिक शिक्षा के द्वारा पूरे नहीं किए जा सके हों। इसके विपरीत जीवनपर्यन्त शिक्षा व्यक्ति को उसकी अपनी रूचि के अनुरुप अपनी योग्यता व क्षमता में विस्तार करने का सुगम अवसर प्रदान करती है जिससे की वह कार्य क्षेत्र में अपनी योग्यता सिद्ध करते हुए बेहतर सामाजिक एवं आर्थिक जीवन जीने के योग्य बन सके।

21वीं शताब्दी में शिक्षा के मायने बदल गए हैं। अब यह माना जाता है कि आदर्श शिक्षा और शिक्षण में एक निश्चित मात्रा में लचीलापन होना आवश्यक है। यह लचीलापन शिक्षा प्राप्त करने के समय, स्थान, आयु तथा अंतरविषयकता की दिशा में होनी चाहिए। इससे शिक्षा ग्रहण का रास्ता किसी भी व्यक्ति के लिए चाहे वह जीवन के किसी भी मोड़ पर क्यों न खड़ा हो, सुगम हो सकेगा। शिक्षा से संबंधित लचीलेपन की इस अवधारणा को अब व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है।

शिक्षा शास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि सीखना या अधिगम एक व्यापक, सतत् एवं जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जन्म लेते ही सीखना प्रारम्भ कर देता है और जीवनभर कुछ न कुछ सीखता रहता है। आगे चलकर धीरे–धीरे वह स्वयं को बृहत्तर समाज में समायोजित करने का प्रयत्न करता है। इस समायोजन के दौरान वह यह कोशिश करता है कि अपने अनुभवों से अधिक से अधिक लाभ उठा सके। इस प्रक्रिया को ही सीखना कहते हैं।

सन् 2005 से 2009 के दौरान अनेक यूरोपियन शिक्षाविद् भारत में आये तथा कई भारतीय विश्वविद्यालयों का सर्वेक्षण किया। इन विद्वानों ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा भारतीय विश्वविद्यालय संघ के अधिकारियों से भी मुलाकात की और व्यापक विचार – विमर्श किया। उस समय निर्मित हो रही 11वीं पंचर्षीय योजना पर इस विमर्श का स्पष्ट प्रभाव

परिलक्षित होता है। 11वीं पंचर्षीय योजना के अंतर्गत यह निर्धारित किया गया कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के दिशा–निर्देशों में जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम के अंतर्गत शिक्षा के उपरोक्त अवधारणा को उच्च शिक्षा के एक महत्वपूर्ण उपांग के रुप में शामिल किया जाए ताकि समाज के नवीनतम आवश्कताओं को जीवनपर्यन्त शिक्षा के माध्यम से पूरा किया जा सके और साथ ही साथ शिक्षित समाज के अभिक्रम को भी सुगम बनाया जा सके। इसके अंतर्गत यह सुझाया गया कि आज के समय की आवश्यकता है कि भारतीय विश्वविद्यालय औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षण को एक सूत्र में पिरोकर प्रोढ़ों के लिए शिक्षा प्राप्त करने के ऐसे अवसर एवं वातावरण उपलब्ध कराएं जहां प्रौढ़ अपनी आवश्यकता अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिए बिना किसी संकोच के, सुगमता से विश्वविद्यालय में जा सकें। यदि विश्वविद्यालय प्रौढ़ों को अपनी विकास यात्रा में मित्र स्वरुप दिखने लगें तो यह विश्वविद्यालय संस्थान के लिए बहुत बडी उपलब्धि होगी।

इन दिशा निर्देशों के माध्यम से यह स्पष्ट आग्रह किया गया कि सभी विश्वविद्यालय अपने यहां जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम विभाग स्थापित करें ताकि विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान कि जा रही औपचारिक शिक्षा के अंतर्गत अनौपचारिक शिक्षा का नेटवर्क विकसित हो सके और वंचित वर्ग भी यहां सुगमता से शिक्षा प्राप्त कर सके।

उपरोक्त अवधारणा का उद्देश्य यह था कि विश्वविद्यालयों के अंतर्गत संचालित अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों के माध्यम से जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम विभाग को शिक्षा प्रणाली का केंद्र बनाया जा सके। सौभाग्य से भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों ने इस नवीन अवधारणा का स्वागत किया और वे भारत में जीवनपर्यन्त शिक्षण के मुख्य केद्र के रूप विकसित होने का प्रयत्न करने लगे। सन् 2009 से 2012 के अंतर्गत पंचवर्षीय योजना में इस हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अनुदान भी दिया जिससे जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम विभागों की नींव सुदृढ़ की जा सकी। लेकिन, दुर्भाग्य से 2013 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस कार्यक्रम को स्थगित कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से विश्वविद्यालयों को जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम विभाग बन्द करना पड़ा। अब कुछ ही विश्वविद्यालय ऐसे बचे हैं जहां जीवनपर्यन्त शिक्षण एवं विस्तार कार्यक्रम विभाग बिना रोक–टोक निरंतर संचालित हो रहा है। यद्यपि राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (वर्तमान साक्षर भारत मिशन) तथा राष्ट्रीय कौशल विकास कार्यक्रम के तहत सिद्धांततः यह स्वीकार किया जा चुका है कि कौशल और ज्ञान राष्ट्र के आर्थिक विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं। स्पष्ट है कि ये संस्थान कौशल और ज्ञान विकास के व्यापक कार्य में संलग्न हो सकते थे लेकिन ये दोनों ही संस्थान प्रौढ़ों की विशाल असाक्षर जनसंख्या को साक्षर बनाने के प्रयास में ही संलग्न रहे और इस मौलिक लक्ष्य की विशालता के कारण अन्ततः असाक्षरता निवारण की परिधि से बाहर नहीं आ सके। सौभाग्य से यूनेस्को ने सन् 2013 में लर्निंग के विभिन्न उपायों के निर्धारण हेतु नई दिल्ली में एक अन्तर्राष्ट्रीय

संगोष्ठी का आयोजन किया जिसमें लर्निंग के अन्तर्गत मूल्यांकन करने के उपाय सुझाए गए। इसके परिणामस्वरूप 12वीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक उपसमिति का गठन किया गया जिसका उद्देश्य प्रौढ़ एवं आजीवन शिक्षा का विकास करने के लिए आवश्यक उपायों का निर्धारण करना था।

भारत सरकार की इन समस्त गतिविधियों का परिणाम विश्वविद्यालय के परम्परागत अवधारणा में व्यापक परिर्वतन के रुप में सामने आया। एक लम्बे अरसे तक यही माना जाता था कि विश्वविद्यालय केवल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के आयवरी टावर हैं जहॉ समाज का एक सीमित वर्ग ही प्रवेश पा सकता है। वर्तमान में यह धारणा स्वीकार नहीं की जाती है। अब अनेक विश्वविद्यालय ऐसे भी हैं जहॉ स्नातक स्तर पर छात्र/छात्राओं के लिए यह आवश्यक कर दिया गया है कि वे अपने शिक्षाकाल में एक निर्धारित अवधि तक प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करेंगे। सौभाग्य से वर्तमान में पदासीन शासनतंत्र ने कौशल विकास को राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के विकास का एक प्रमुख सोपान स्वीकार कर इस हेतु अनेक प्रावधान निर्धारित किए हैं जिनके अन्तर्गत प्रौढ़–शिक्षण के साथ – साथ कौशल विकास के कार्यक्रम भी संचालित किए जा सकते हैं और किए जा रहे हैं। इस दृष्टि से गुजरात विद्यापीठ, गुजरात; जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर; भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ नई दिल्ली; जामिया मिलिया इस्लामिया संस्था, नई दिल्ली तथा इण्डिया लिट्रेसी बोर्ड, लखनऊ आदि कई संस्थाएं अनवरत कार्य कर रही हैं।

जीवनपर्यन्त शिक्षा को औपचारिक शिक्षा का एक प्रभावी एवं अनिवार्य अंग बनाने का कार्य संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अत्यन्त प्रभावी तरीके से किया गया है। इसके लिए वहां उच्च शिक्षा में सामुदायिक शिक्षा महाविद्यालयों की धारणा को विकसित किया गया है जिसकी स्वीकार्यता अमेरिकी समाज में दिन–प्रतिदिन बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त कनाडा, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, फिलीपीनस तथा यूनाईटेड किंगडम में भी यह अत्यन्त लोकप्रिय है।

वस्तुतः सामुदायिक महाविद्यालय एक विशेष प्रकार की शिक्षण संस्थाएं हैं जो कामगार वर्ग के लिए शिक्षा के साथ–साथ कॉलेज ट्रान्सफर प्रोग्राम भी संचालित करती हैं। सामुदायिक महाविद्यालय जिन्हें कभी–कभी जूनियर कॉलेज, टेक्नीकल कॉलेज, टू ईयर्स कॉलेज, सिटी कॉलेज आदि अलग–अलग नामों से जाना जाता है, मूलतः दो वर्षीय महाविद्यालय हैं जो उच्च शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते हैं। साथ ही साथ ये सर्टिफिकेट डिप्लोमा तथा एसोसिएट डिग्री भी प्रदान करते हैं। वर्तमान प्रावधानों के अनुसार इन महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कुछ विद्यार्थी लिबरल आर्टस के चार वर्षीय पाठ्यक्रम में भी प्रवेश ले सकते हैं। भारत में भी अनेक सामुदायिक महाविद्यालय स्थापित किए गए हैं जो सुचारु ढंग से कार्य कर रहे हैं। भारतीय संवर्गो में सामुदायिक महाविद्यालय शिक्षा की एक ऐसी व्यवस्था है जिसका उददे्श्य समाज के कमजोर वर्ग को शिक्षा प्रदान करना

है। ये महाविद्यालय शिक्षा के साथ – साथ कमजोर वर्ग के छात्रों को कौशल विकास की शिक्षा प्रदान कर उन्हें रोजगार प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

12वीं योजना के अन्तर्गत भी कौशल विकास आधारित शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया है तथा इसके लिए कम्युनिटी कॉलेज प्रारम्भ करने का भी प्रावधान किया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कम्युनिटी कॉलेज जीवनपर्यन्त शिक्षा का ही एक अंग है जो समाज के सामाजिक–आर्थिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है।

इस तरह से जीवनपर्यन्त शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य सा हो गया है। 21वीं शताब्दी ज्ञान के विस्फोट की शताब्दी है, प्रत्येक अनुशासन में नित नई खोजे हो रही हैं, आवश्यक है कि निर्धारित अवधि की स्नातक, अधिस्नातक उपाधियों को प्राप्त करने के पश्चात् भी सम्पूर्ण जीवन में नवीन ज्ञान से स्वयं को अपडेट करने के लिए जीवनपर्यन्त शिक्षा की संरचना को सहज एवं सर्वसुलभ बनाया जाए।

जन्म से मैं एक हिन्दु हूं, परन्तु मुझे नहीं मालूम कि स्वयं को हिन्दु कहना और हिंदुओं की ओर से बोलना मेरे लिए कितना उचित है। परंतु इस देश में जन्म फिर भी मायने रखता है और जन्म के उस अधिकार से मैं हिंदुओं के नेताओं से निवेदन करना चाहूंगा कि आगे बढ़कर उदारता दिखाने में उनका भी हित है। उदारता एक उच्च नैतिक गुण ही नहीं, बल्कि अक्सर वह उत्तम राजनैतिक और कार्यसाधक उपाय सिद्ध होता है। और मेरे लिए यह काल्पनातीत है कि एक आजाद भारत में हिंदु कभी भी भक्तिहीन हो सकते हैं। जहां तक मेरा संबंध है, मैं अपने मुसलिम और सिख दोस्तों से कहूंगा कि वे जो कुछ चाहते हैं, वह बिना आंदोलन एवं बहस किए मुझसे ले सकते हैं। मैं जानता हूं कि जल्द ही वह समय आ रहा है, जब लेबलों व नामों का कोई महत्व नहीं होगा और हमारे संघर्ष आर्थिक आधारों पर होगें। तब तक इस बात का इतना महत्व नहीं होगा कि हमारी आपसी व्यवस्थाएं क्या हैं बशर्ते कि वे हमारे भावी प्रगति में रोड़ा न बनें।

– पं. जवाहरलाल नेहरु

जीवन प्रबंधन एवं गीता की सार्थकता

भावना ठुकराल

सभ्यताओं के विकास के क्रम में राष्ट्रों का उदय एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। राजनैतिक चिन्तक एवं दार्शनिक इसे मनुष्य द्वारा सत्ता एवं संस्कृति के विकास की दिशा में किए गए सतत प्रयासों का परिणाम मानते हैं। आधुनिक संदर्भों में व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा तथा उसके सांस्कृतिक एवं सार्वभौमिक विकास के लिए राष्ट्रों की उपस्थिति को अनिवार्य सा माना जाता है। यह माना जाता है कि सुरक्षित एवं समृद्ध राष्ट्र ही अपने निवासियों के सार्वभौमिक विकास को बढ़ावा दे सकते हैं। इसलिए अपने ही हित में राष्ट्र की सुरक्षा को निवासियों का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य माना गया है। नागरिकता की अवधारणा में राष्ट्र की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। भगवद्गीता के माध्यम से प्रतिपादित दर्शन सांसारिक जीवन जीते हुए व्यक्ति को उसके निजी, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैश्विक तथा नैसर्गिक कर्तव्यों का बोध कराते हुए उसे अध्यात्म की ओर ले जाने का प्रयास करता है। यह मानव ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए यह व्यक्ति में राष्ट्रीयता की भावना को उजागर करते हुए उसे वैश्विक दायित्वों के निर्वहन करने के लिए भी प्रेरित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

कहते हैं कि सृष्टि का गूढ़ ज्ञान वेदों में है, वेदों का सार उपनिषदों में और उपनिषदों का सार गीता में है। सच कहा जाए तो गीता धार्मिक ग्रंथ कम प्रबंधन शास्त्र ज्यादा है। यह बंधनों को तोड़ने वाला शास्त्र है। धार्मिक ग्रंथ के रुप में ना सही यदि मनुष्य मात्र इसे प्रबंधन शास्त्र के रुप में भी अंगीकार करे तो सारी दुनियां सकारात्मक रुप से बदलती चली जाएगी।

गीता बंधनों में बाधने वाला नहीं बल्कि सभी बंधनों को तोड़ने वाला शास्त्र है। यह जीव मात्र के समक्ष मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञात है कि माघ माह की शुक्ल एकादशी के दिन ही भगवान् श्री कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान (वर्तमान हरियाणा) में अर्जुन के माध्यम से पूरी मानवता को गीता का संदेश दिया था। विश्व भर में इस दिन को गीता जयन्ती के रुप में मनाया जाता है। हरियाणा में इस दिन को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। गीता की महत्ता एवं जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने की दिशा में इसकी बढ़ती प्रासंगिता को देखते हुए आज दुनियां भर में गीता के अध्ययन एवं अध्यापन पर जोर दिया जा रहा है। अमेरिका की सेंट्रल हॉल यूनिवर्सिटी ने विश्वविद्यालयों में भारतीय छात्रों की संख्या अत्यन्त कम होने के बाद भी भगवत् गीता को अपने नित्य पाठ्यक्रम में शामिल किया है। इसका कारण है कि अकूत धन–सम्पदा होते हुए भी आज के युग में मनुष्य को शान्ति नहीं मिल

पा रही है। उसे एक ऐसे सम्यक जीवन पद्धति की तलाश है जहां सुख–सुविधा और समृद्धि के साथ–साथ शांन्ति भी मिल सके। संभवतः विश्वविधालय के अकादमिक अधिकारियों को इसका आभास होगा कि श्रीमद्भगवत् गीता ही वह रसायन परोस सकता है जो भौतिक जीवन में रचे–बसे होते हुए भी सभी को शान्ति व तृप्ति का मार्ग बता सके। गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अपने परम शिष्य अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता को यह संदेश दिया गया है कि व्यक्ति को संसार में अपना कर्तव्यपालन किस तरह करना चाहिये। गीता में श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सहज व सरल रूप से कर्म प्रबंधन का वह सर्वश्रेष्ठ और संतुलित मार्ग जिसके तहत मानवीय रिश्ते, संवेदनाएं तथा जीवन में प्रतिपल घटित होने वाली क्रियाएं व्यवस्थित तथा परिपूर्ण हो जाए, को दर्शाने का प्रयत्न किया है। इस लेख में गीता में वर्णित उन तत्वों को उजागर करने का प्रयास किया गया है जो हमारे दैनंदिन जीवन के बेहतर प्रबंधन में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति जैसे मौलिक तत्वों पर ज्यादा जोर दिया गया है। कर्म तत्व को सम्पूर्ण विश्व में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता के माध्यम से आधुनिक बेरोजगार व किंकर्तव्यविमूढ़ युवकों को निष्काम कर्म की प्रेरणा देते हैं। वे कहते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा, ते संगोस्त्वकर्मणि।।

अर्थात फल की आशा किए वगैर कर्म करो और करते रहो। फल की प्राप्ति ईश्वर पर छोड़ दो। सृष्टि में कर्म के अनुरुप फल का मिलना अनिवार्य है। तुमने अपने कर्म से जो भी अर्जित किया है वह सफलता, सुख और शान्ति तुम्हें जरूर मिलेगी। भौतिकतावादी आज के इस युग में कर्म के इस अवधारणा की प्रासंगिकता हर दिन, हर पल, हर समय है क्योंकि इस संकल्पना के साथ कर्म करने वाला व्यक्ति फल प्राप्ति और उसके परिमाण से पहले ही मुक्त हो चुका होता है। ऐसे में वह अपना पूरा ध्यान निर्धारित कर्म के सठीक निष्पादन पर केद्रिंत करता है। दबाव मुक्त व्यक्ति अपना काम ठीक से करता है तो उसे बेहतर नतीजों की प्राप्ति स्वतः होती चली जाती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है – 'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा'। दुनियां के सभी सफल व्यक्तियों, महापुरूषों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों तथा दार्शनिकों ने ना केवल कर्म को साधा है बल्कि अपने व्यवहार से कर्म के महत्व को प्रचारित भी किया है। कर्म सत्य है, सोपान है तथा आत्मविश्वास पैदा करने का अचूक मंत्र है। कर्म से सब कुछ सम्भव है, कर्म के बिना कुछ भी पाना मुश्किल है। इसलिए ठीक ही कहा गया है –

करत–करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात से सिल पर परत निसान।।

अर्थात् अभ्यास व कर्म से मूर्ख व्यक्ति भी चतुर बन जाता है। आज सूचना क्रान्ति और सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में ज्ञान की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गई है। ज्ञान का प्रसार भी करोड़ों गुना तेज हो गया है। संचार व परिवहन क्रान्ति के कारण पुरी दुनियां एक छोटे से कस्बे में तबदील हो गई है। ज्ञान के बिना कोई भी काम कर दिखाना सम्भव नहीं है। ज्ञान हर समय हर युग और हर स्थान पर प्रांसगिक है। ज्ञान के बिना मनुष्य पशु के समान है। ठीक ही कहा गया है–

साहित्य, संगीत, कला विहीन।
सः साक्षत् पशूनाम् पुच्छविशाणहीन।।

अर्थात् बिना ज्ञान, साहित्य, संगीत व कला के मनुष्य पशु के समान है। एक ऐसा पशु, जिसके पास न तो सींग है और न पूंछ। श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान पर जोर देती है। ज्ञान को सभी शक्तियों से श्रेष्ठतर माना गया है। पंचतंत्र में भी खरगोश व शेर की कहानी के माध्यम से दुनियां को बताया गया है कि शारीरिक बल की तुलना में बुद्धिबल श्रेष्ठ होती है। ज्ञान के दायरे में साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, खेलकूद, व्यायाम, योग, चिकित्सा, दुनियादारी, तकनीक आदि सभी कुछ समाहित होते हैं।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति पर सर्वाधिक जोर दिया है। भक्ति में अध्यात्म, ज्ञान, पूजा–पाठ, तपस्या, साधना, योग, धर्म आदि सभी शामिल होते हैं। भक्ति की परिभाषा देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है –

सत्य के मार्ग पर चलना, परोपकार करना तथा ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही भक्ति है। भक्ति एक भाव है, एक विचार है, एक श्रद्धा है, एक विश्वास है, एक संस्कार है।

ईश्वर को किसी ने नहीं देखा मगर ईश्वर सर्वव्यापी माने जाते हैं। सृष्टि के सभी जीव ईश्वरीय प्रकोप से डरते हैं। ईश्वर अन्तिम अस्त्र, अन्तिम न्यायालय, अन्तिम सहारा, जगत् पिता परमात्मा व जगत् के प्रतिपालक हैं। सृष्टि की कोई भी गतिविधि ईश्वर के आंखों से ओझल नहीं है। वे सब कुछ देखते हैं और पापियों को सजा भी देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

रामचरित मानस में आचार्य तुलसीदास ने उपरोक्त श्लोक के आसय को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

जब–जब होहिं धर्म कै हानी,बाढ़हि असुर महाअभिमानी।
तब–तब धरि प्रभु मनुज शरीरा, हरहिं सदा सज्जन भवपीरा।।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि हर व्यक्ति को कूटनीतिज्ञ होना चाहिए। उसे एक अच्छा राजनयिक (दूत) भी होना चाहिए। संयमी तथा त्यागी होना चाहिए। आज इस भोगवादी युग में संयम का विशेष महत्व है। संयम से ही एड्स, यौन रोग, विवाद तथा धन की बर्बादी से बचा जा सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता उपदेश के माध्यम से इन्द्रिय निग्रह पर जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि हर व्यक्ति इन्द्रियों को वश में रखे, उन पर लगाम लगाए। जिस प्रकार रथ में पॉच या दस घोड़े होते हैं, उसी प्रकार दस इन्द्रियॉ होती हैं। उन्होंने कहा है कि समाज, देश और विश्व में वही विजयी होगा, जिसकी इन्द्रियॉ वश में रहेंगी।

श्रीमद्भगवद्गीता को विश्व के श्रेष्ठतम ग्रंथों में से एक माना जाता है। विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, संन्यासयोग, विज्ञानयोग, मोक्षयोग आदि का यह सार है। इसे मात्र धार्मिक नजरिए से देखना मानव सभ्यता और संस्कृति की उस बहुमूल्य विरासत से विरत रहना होगा जो मजहब के सीमित अर्थो से आगे जा कर हर जीव मात्र का कल्याण कर सकता है। गीता का वाचन, पठन–पाठन और मनन करने से पूर्व यह ध्यान में रखा जाना आवश्यक है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण की यह वाणी युद्ध की विभीषिका से घबराए हुए अर्जुन के मन–मानस से नैराश्य को दूर कर उन्हें अपना उचित व सामयिक कर्तव्य करने के लिए प्रेरित करती है। वस्तुतः अर्जुन जब यह कहते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा', तब अर्जुन को उनके कर्तव्यों की याद दिलाने के लिए ही गीता का उद्भव हुआ था, जिसका दर्शन सभी के जीवन पर लागू होता है।

श्रीवेदव्यास जी ने महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण की उसी वाणी का संकलन किया है, जिसके 18 अध्याय है। संशय और विषाद से ग्रस्त लोगों के लिए गीता संजीवनी का कार्य करती है। जब जीवन में घोर कठिनाईयां हो, तो गीता कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ने का संदेश देती है। अर्जुन की भांति हमारे जीवन में भी विषाद के ऐसे क्षण आते हैं, जब हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। विषाद और हताशा दोनो में ही गीता संजीवनी का कार्य करती है। गीता का कर्मयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही हमें अपने कर्म की ओर प्रवृत करता है। यहां कर्म शब्द कृधातु से बना है जिसका अर्थ है करना। अपने कार्यक्षेत्र की कुशलता ही हमें ऊंचाईयों की ओर ले जाती है। किंतु वह कुशलता अपने सद्प्रयासों से स्वयं को ही पछाड़कर आगे बढ़ना है। यदि प्रयास किए जाएं और सफलता प्राप्त नहीं हो रही है, तो अवश्य देखना चाहिए

कि हमारे प्रयास में कहां कमी रह गई है। जब भी कार्य का परिणाम अच्छा नहीं मिले और मन दुखी हो तो गीता की ये पंक्तियां हौसला देती हैं।

कर्मण्येवाधिकरास्ते मा फलेशु कदाचन।

कर्म में हमारा अधिकार है, फल में नहीं। यह सोचकर कि हमारा अधिकार कर्म में है, फल में नहीं मानव अपने कार्य में पुनः लग जाता है। वह अधिक ऊर्जा से कार्य करता है और उसे सफलता प्राप्त करने में देर नहीं लगती। कर्म के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने भी स्वयं कर्म करते हुए किया है। वे भी कर्म से विरत नहीं होते और कहते हैं कि –

न में पार्थास्ति कर्तव्य त्रिशु लोकेशु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्माणि।।

अर्थात हे अर्जुन, इन तीनों लोकों में मेरे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म को ही बरतता हूॅं।

निष्कर्ष –

गीता का मानव जीवन में विशेष महत्व है। गीता का ज्ञान व्यक्ति, जाति व धर्म सम्प्रदाय के लिए न होकर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है। वर्तमान समय में मौजूद प्रत्येक समस्या का समाधान गीता में है। इसीलिए जीवन के प्रबन्धन में गीता का संदेश विशेष महत्व रखता है। द्वापरयुग में गीता का उपदेश कलयुग के लोगों के कल्याण हेतु दिया गया था। गीता कोई धार्मिक पुस्तक नहीं अपितु अपने द्वारा प्रतिपादित दर्शन के माध्यम से यह हमें ईश्वर के साक्षात–दर्शन करवाती है। गीता जीवन का वह सार है जो जीवन जीने का रास्ता सिखाती है जिस पर चल कर हम जीवन जीने की कला सीख सकते हैं। गीता के केवल एक अध्याय में ही युद्ध का वर्णन है शेष सभी सत्रह अध्याय तो मानव दर्शन पर आधारित है। जीवन में सद्गुणों को अपनाने की सरलतम विधि गीता में है। अमेरिकन प्रोफेसर स्टीफन ने गीता को जीवन जीने की नियामावली कहा है जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति शान्ति के मार्ग पर स्वयं को संचालित कर सकता है। अतः गीता को पुस्तकालयों से बाहर निकालकर अपने जीवन में लागु करने की आवश्यकता है। गीता हर एक स्थान, हर समय में एवं हर एक व्यक्ति के लिए उपयोगी है। यह शाश्वत मूल्यों की बात करती है। इसलिए यह सार्वभौमिक है, सार्वकालिक है। क्योकि इसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की जीवन पद्धति से है। अपने कार्यो में पूर्णतया कुशलता अर्जित कर सदकार्य करते हुए जीना, कभी अभिमान की भावना न आने देना आदि गीता के वे संदेश हैं जो जीवन के पग–पग पर मानव मात्र का मार्गदर्शन करते हैं। मानव की जीवन रूपी नौका जब जब भवसागर में तुफानों के थपेडों में

डगमगाने लगती है गीता तब नौका को और नौका में सवार व्यक्तियों को सकुशल पार लगाती है।

संदर्भ

1. बृजनाथ सिंहः गीता ज्ञान, आज और अधिक प्रासंगिक, सामान्य ज्ञान दर्पण, अप्रैल 2015।
2. दुबे, प्रमिला : जीवन का प्रबन्धन है गीता, दैनिक भास्कर, 16 दिसम्बर 2015

लघु कथा

लगाव

— महाबीर रवांल्टा

उस दिन विकासखण्ड स्तरीय विचारगोष्ठी में लोग बडी संख्या में उपस्थित हुए थे। इस अवसर पर एक पुस्तक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था।

गोष्ठी से उठकर लोग उस पंडाल की ओर जा रहे थे जहां पर पुस्तक प्रदर्शनी लगी थी। पुरुष, महिलाएं व बच्चे पुस्तकें देखते हुए उन्हें उलटते—पलटते और कुछ अपनी रुचि की खरीद भी रहे थे।

''देखो यार आज के दौर में किताबें कितनी मंहगी होती जा रही है'' ढाई सौ रुपये की एक पुस्तक के पन्ने उलटते हुए तुषार अपने साथी प्रशान्त से बोल पड़ा था। ''तो क्या हुआ, हर चीज के दाम बढ़े हैं तो किताबों के दाम भी तो बढ़ेंगे'' प्रशान्त ने कहा और इस बीच अपने लिए चुनकर रखी साढ़े आठ सौ की पुस्तकें खरीद ली।

''तूने खरीद ली पर मैं तो इतना पैसा किताबों पर बर्बाद करने से रहा'' कहते हुए उसने पुस्तक वापस स्टाल पर रखी और प्रशान्त के साथ वहां से चल पड़ा।

दूसरी ओर खड़ा उनका पुस्तक प्रेमी पडोसी सुधीर उनकी बात सुनकर सिर्फ मुस्करा कर रह गया था।

सायं को वह बाजार से सब्जी लेकर लौट रहा था तभी अंग्रेजी शराब के ठेके पर खड़े प्रशान्त का स्वर उसके कानों में पड़ा— आज यही खरीद लेते हैं यार, ढाई सौ में काम चल जाएगा।''

''क्या बात करता है यार इतनी सस्ती शराब तो मैं छूता भी नहीं, ले दूसरी मंहगे ब्राड की खरीद ले'' कहते हुए उसने जेब से एक हजार का नोट निकालकर उसे पकड़ा दिया था।

उसने गौर से देखा, यह वही तुषार था जो ढाई सौ रुपये की पुस्तक को मंहगी बताकर स्टाल पर ही छोड़ आया था।

(साभार अक्षरा)

शिक्षा सुधार का आधार

– जगमोहन सिंह राजपूत

इधर चौदह हजार बच्चों को शामिल कर स्कूल पूर्व की शिक्षा के अगले चार साल की पढ़ाई पर पड़े प्रभाव को लेकर किए गए यूनीसेफ के सर्वेक्षण की रिर्पोर्ट पर लोगों का ध्यान गया है। निष्कर्ष कुछ इस प्रकार हैः सरकारी (आंगनवाड़ी) तथा निजी स्कूलों में स्कूल–पूर्व शिक्षा में कुल मिलाकर जोर औपचारिक शिक्षा पर ही हो जाता है, सरकारी स्कूलों द्वारा अनेक प्रकार की 'मुफ्त' मिलने वाली सुविधाओं के बावजूद जहां भी संभव हो पाता है माता–पिता बच्चे को गैरसरकारी स्कूल में ही दाखिल कराना पसंद करते हैं। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने के लिए वे अपनी सामर्थ्य में बड़ी से बड़ी फीस देने को तैयार होते हैं। स्कूल–पूर्व शिक्षा के बाद भी बच्चों को वही पुरानी रटने तथा दोहराने की परंपरागत पद्धति से ही गुजारा जाता है। ब्लैकबोर्ड से देख कर नकल करना आज भी लगभग वैसे ही प्रचलित है जैसे पहले था।

इन निष्कर्षों को देख कर (विशेषकर रटने को लेकर) कुछ आधुनिक निजी स्कूलों से जुड़े लोग अस्वीकार्यता में तर्क देने लगते हैं, पर अधिकतर स्कूलों में स्थिति यही है। शिक्षण पद्धतियों में मूलभूत सुधार होने में आगे भी सघन प्रयासों की आवश्यकता पड़ेगी। केवल कंप्यूटर और इंटरनेट आ जाने से बच्चों पर पड़ने वाला दबाव न कम हुआ है न होने की संभावना है। यह तभी संभव है जब शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान अपने शैक्षिक कलेवर को पूरी तरह बदलने को तैयार हों। इसके लिए इन संस्थाओं में अत्यंत कर्मठ तथा 'पढ़ाने को प्यार करने वाले' शिक्षक प्रशिक्षक को लाना होगा। अधिकतर राज्य सरकारों की प्राथमिकता में ये संस्थान हैं ही नहीं! दशकों तक इनमें नियमित नियुक्तियां और प्रोन्नतियां की ही नहीं जाती हैं। प्रतिनियुक्ति पर अधिकतर वे लोग लाए जाते हैं जो या तो मंत्री महोदय से पूर्व–परिचित रहे हों या अन्य प्रकार से साधन–संपन्न हों। जो शिक्षक–प्रशिक्षण गैरसरकारी संस्थानों में हो रहा है उसमें से अधिकांश खानापूरी तक सीमित रह गया है। और इससे कोई भी अपरिचित नहीं है। इस स्थिति में मूल्यों की शिक्षा या पूर्ण व्यक्तित्व विकास जैसी अपेक्षाएं कागजों पर लिखे शब्दों तक सीमित रह जाती हैं।

आज अनेक लोग यह पूछते हुए पाए जाते हैं कि शिक्षा संस्थानों में जो कर्मठता, मूल्यपरकता, सहजता तथा कर्तव्यनिष्ठा 1950–60 के समय देखी जाती थी वह अब ढूढ़ने पर भी क्यों नहीं मिलती है! पिछले कुछ दशकों में हुए इस नकारात्मक परिवर्तन को समझने

और उससे निजात पाने के लिए आज भी मोहनदास करमचंद गांधी द्वारा 1909 में लिखी गई कालजयी रचना 'हिन्द स्वराज' राह दिखा सकती है। इसमें गांधीजी ने प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान हक्सले के कथन को उद्धत किया थाः 'उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसके शरीर को ऐसी आदत डाली गई हैं कि वह उसके वश में रहता है, जिसका शरीर चैन से और आसानी से सौंपा हुआ काम करता है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई, जिसकी बुद्धि शुद्ध, शांत और न्यायदर्शी है। उसने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसका मन कुदरती कानूनों से भरा है और जिसकी इंद्रियां उसके वश में हैं, जिसके मन की भावनाएं बिलकुल शुद्ध हैं जिसे नीच कामों से नफरत है और जो दूसरों को अपने जैसा मानता है। ऐसा आदमी ही सच्चा शिक्षित (तालीमशुदा) माना जाएगा, क्योंकि वह कुदरत के कानून के मुताबिक चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगी और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा।

इस प्रकार की शिक्षा उसी स्कूल या संस्था में दी जा सकती है जहां के अध्यापक 'मनुष्य की इस संकल्पना' से न केवल परिचित हों, वे स्वयं के जीवन में उन मूल्यों को आत्मसात कर चुके हों, उन्हें साकार रूप में विद्यार्थियों के समक्ष (बिना कहे अपने आचार–विचार व व्यवहार में) प्रस्तुत कर रहे हों। भारत की शैक्षिक परंपरा में गुरू (अध्यापक) से हर प्रकार के आदर्श की अपेक्षा की जाती रही है। जब अध्यापकों से इस दिशा में चर्चा की जाती है तब फिर एक बार वही तथ्य सामने आकर खड़े हो जाते हैं कि क्या केवल अध्यापक से सारी नैतिकता की अपेक्षा करना उचित होगा? क्या अध्यापक के ऊपर उसके आसपास हो रहे घटनाचक्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा? 'महाजनो येन गतः या पन्थाः' क्या आज प्रभावशाली नहीं होगा? अधिकाधिक संग्रहण करने के उदाहरण जो नित्यप्रति उजागर होते हैं वे क्या अध्यापकों तथा उनके विद्यार्थियों पर कोई प्रभाव नहीं डालेंगे?

एक उदाहरण सर्वविदित है। सन् 1960 में यह कल्पना करना भी असंभव था कि विश्वविद्यालय या महाविद्यालय का कोई प्राध्यापक ट्यूशन करेगा! वे कक्षाओं से अलग हट कर विद्यार्थियों को आवश्यकतानुसार पढ़ाते अवश्य थे मगर वह धनार्जन का स्रोत नहीं होता था। परिवर्तन इतनी तेजी से हुआ है कि देश की अधिकतर नियामक संस्थाओं की साख लगभग समाप्त हो चुकी है। इनके द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ समितियां ऐसे संस्थानों को मान्यता दे देती हैं जो मापदंडो पर खरे नहीं उतरते हैं। आज जब व्यापम जैसे प्रकरण सामने आते हैं, अधिकतर व्यावसायिक प्रवेश परीक्षाओं के प्रश्नपत्र 'लीक' हो जाते हैं तब नैतिकता के ह्रास का दंश देश के भविष्य को डंसता है। अध्यापक इस सब से अछूता कैसे रह सकता है?

आधुनिकता में शिक्षा से अपेक्षाएं अनेक प्रकार से भले प्रस्तुत की जाती हों, उसका मूल उद्देश्य तो ऐसे व्यक्ति का निर्माण करना है जो अपने जीवन के निर्णय स्वयं ले सके, अपने जीवन से संतुष्ट हो सके, समाज से केवल लेता न रहे, अंतः करण से उसकी प्रगति में

योगदान करने का लक्ष्य बनाए, अपने अधिकारों से पहले अपने कर्तव्यों पर ध्यान देता हो। आज भी देश के अध्यापन जगत में हर स्तर पर ऐसे शिक्षक मिलते हैं। चिंता केवल इसलिए है कि यह वर्ग सिमटता जा रहा है। इनके कार्य के सुचारू निष्पादन के लिए यह भी आवश्यक है कि बच्चे को घर से लेकर स्कूल तक एक प्रेरणाप्रद वातावरण मिले।

यह हर बच्चे का नैसर्गिक अधिकार है कि ऐसे अध्यापक से ही उसका वास्ता पड़े जो अंतः करण से अपने कार्य की श्रेष्ठता को जानता हो, जो स्वयं सदा याद रखे कि वह हर बच्चे के लिए 'आइकॉन' है।

घर से बाहर स्कूल में आने पर बच्चों को एक निरंतरता मिलनी चाहिए जो संदेदनशील अध्यापक ही दे सकता है। इसलिए प्रारभिंक कक्षाओं में महिला शिक्षकों को प्राथमिकता दी जाती है, या दी जानी चाहिए। शिक्षा की गुणवता उन्ही देशों में निखरी है जहां स्कूल–पूर्व तथा प्राथमिक शिक्षा में नियुक्त अध्यापकों के चयन, प्रशिक्षण तथा उपयुक्त कार्यकारी परिवेश उपलब्ध करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। भारत में स्कूल–पूर्व शिक्षा की समझ तथा उसका प्रचलन देर से प्रारंभ हुआ और धीरे–धीरे ही आगे बढ़ पा रहा है। सरकारी तंत्र उससे घबराता रहा है। संविधान में जहां 'चौदह वर्ष की आयु तक' अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा शिक्षा की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सरकार को दिया गया था, उसे शिक्षा के अधिकार अधिनियम में 'छह से चौदह वर्ष' कर दिया गया। यह गुणवता के सुधार के लिए सकारात्मक कदम तो कतई नहीं कहा जा सकता।

जब सारी दुनिया शिक्षा के सार्वजनीकरण को चौदह से बढ़ा कर अठारह वर्ष तक ले जा रही है, भारत में हम प्रारंभिक कक्षाओं में केवल नामांकन के प्रतिशत को बढ़ा हुआ देख आत्ममुग्ध हो रहे हैं। यह अपने में शैक्षिक प्रगति की एक विडंबना ही मानी जानी चाहिए। सरकारी व्यवस्था में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं को सब प्रकार के संसाधन उपलब्ध कराना तुरंत प्रारंभ होना चाहिए। थोड़े से मानदेय पर अध्यापकों की नियुक्ति बंद होनी चाहिए, भले इसके लिए कितने ही अधिक संसाधन क्यों न जुटाने पड़ें। भावी पीढ़ी की तैयारी में कोताही कर समावेशी प्रगति का लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। –जागरण से साभार

'करो' से मतलब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्द बहाल करने से है और 'मरो' से मतलब प्रयास करते–करते मिट जाने से है।

– महात्मा गांधी

उत्तराखण्ड के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका व योगदान (20वीं शताब्दी)

शिवानी राणा चन्देल

मध्य हिमालय, जिसे वर्तमान में उत्तराखण्ड के नाम से जाना जाता है, अपनी अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य के साथ–साथ कई जटिल सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए महिलाओं द्वारा संचालित संघर्ष एवं सफल जन आंदोलनों के लिए भी विश्वभर में ख्यात रहा है। मद्यपान निषेध, अवैज्ञानिक खनन, 'नशा नहीं रोजगार दो' तथा पर्यावरण संरक्षण आदि आन्दोलनों में स्थानीय महिलाओं ने पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर जुझारूपन और प्रशंसनीय संगठन शक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। यही नहीं सुदूर पहाड़ों पर बसे ग्रामों में विद्यालय खोलने की पहल पर शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए भी यहां की महिलाओं ने उल्लेखनीय कार्य किया है जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा में पर्वतीय नारी की अहम भूमिका का यशोगान करता है। 'चिपको वूमेन' नाम से विश्वख्यिात गौरा देवी ने अपनी सहयोगी महिलाओं के साथ चमोली जिले के रैणी में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में जो साहसिक कार्य किया वह बेमिसाल है। सन् 1974 में सरकार ने इस आन्दोलन के फलस्वरूप ठेकेदारी प्रथा बंद की जिससे समूचे उत्तराखण्ड में पेड़ों की अंधाधुंध कटाई रूक गयी। इतना ही नहीं स्वर्गीय गौरा देवी ने जो अलख जगाई उसने सारे देश में सकारात्मक बदलाव के लिए संघर्षरत लोगों में एक नवीन उर्जा का संचार किया। स्वयंसेवी प्रयासों में लगे लोगों में यह उम्मीद बंधी कि परिस्थिति चाहे कितनी भी चुनौतिपूर्ण क्यों न हो सतत् संघर्ष करने पर सफलता अवश्य ही हाथ लगेगी। यह चिपको आंदोलन की सफलता तथा स्वर्गीय गौरा देवी की प्रेरणा ही थी जिसने दक्षिण में 'आप्पिको' आन्दोलन बनकर जनचेतना को उत्प्रेरित किया और वन संरक्षण की दिशा में सार्थक पहल बनी।

सन् 1900 से 1950 के बीच के भारतीय इतिहास पर गौर करने से पता चलता है कि इस दौर के राष्ट्रीय आन्दोलनों में महिलाओं की हिस्सेदारी धीरे–धीरे बढ़ने लगी थी। राष्ट्रीय स्तर पर एक ओर ऐनीबेसेंट और सरोजिनी नायडू का कांग्रेस अधिवेशनों में अध्यक्ष बनना और दूसरी ओर मैडम कामा, दुर्गा भारती तथा प्रकाशवती आदि क्रांतिकारी महिलाओं का सामने आना जन आंदोलनों में महिलाओं के बढ़ते प्रतिभाग की ओर इशारा करता है। लेकिन इसी दौर में कई पर्वतीय इलाके (कुमाऊॅ आदि) ऐसे थे जहां के महिलाओं के सोच का दायरा सीमित था। वे रूढ़िवादिता से जकड़ी हुई थीं। ये पर्वतीय अंचल सड़क और संचार साधनों से कोसों दूर थे। यहां सामाजिक भेदभाव की क्रूर व्यवस्था विराजमान थी। महिलायें उपेक्षित थी इसलिये वो अप्रत्यक्ष रूप से आन्दोलनों के बारे में सोचने लगीं। जंगल सत्याग्रह का ज्यादा प्रभाव महिलाओं पर पड़ा। दुर्गा देवी को थकलौड़ी वन में आग लगाने के आरोप में एक माह की कड़ी कैद हुई। जंगलात सत्याग्रह तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में गिरफ्तार होने वाली कुमाऊँ की वह प्रथम महिला थी।

जंगलात सत्याग्रह की जागृति से महिलाओं की सक्रियता धीरे–धीरे बढ़ने लगी। इससे पूर्व अपने घरों में इन आन्दोलनकारी महिलाओं का अस्तित्व माँ, बहनों एवं पत्नियों की हैसियत तक ही सीमित थी लेकिन अब अपने पिता, भाई, पति आदि के जेल जाने पर ये घर का सारा कारोबार संभालती थी। घर के पुरूष सदस्य के जेल जाते ही सरकार उन्हें अनेक तरह से परेशान करती थी। बच्चों का सामान, महिलाओं के जेवर, बर्तन आदि सभी कुछ नीलाम कर दिया जाता था। लोगों को धमकियाँ दी जाती थीं कि अगर कोई उनको मदद करेगा तो उनका बुरा हाल होगा। कुमाऊँ की महिलाओं ने बड़े साहस से इन परिस्थितियों का सामना किया। महिलाओं के मन में एक ही बात होती थी कि हमारा पति, पिता या पुत्र अपराध के लिए नहीं बल्कि देश की आजादी के लिए जेल गया है।

धीरे–धीरे यहां के महिलाओं में राष्ट्रीय चेतना विकसित हो रही थी फिर भी वे लज्जा और संकोच के कारण बहुत खुलकर आन्दोलनों में भाग नहीं ले रही थी। परिवर्तन धीरे–धीरे आया। अल्मोड़ा की महिलायें अब रात में गौशला में जागरण करने तथा सामाजिक उत्सवों के अवसर पर राष्ट्रीय गीतों को गाने लगी थीं। अब वे राष्ट्रीय संग्राम से सम्बन्धित प्रदर्शनों तथा सभाओं में जाने से अपने को रोक नहीं पा रही थी। अल्मोड़ा, नन्दा देवी मंदिर में होने वाली सभाओं में वे धीरे–धीरे भाग लेने लगी और खादी के महत्व को समझते हुए खादी पर लोकप्रिय गीत गाने लगी।

साइमन कमीशन के विरोध में निकले जलूस में कुछ महिलायें आईं तो 1929 में गाँधी जी के कुमाऊँ आगमन से महिलाओं की हिस्सेदारी और अधिक बढ़ने लगी। गाँधी जी सबसे पहले नैनीताल आये वहाँ उन्होंने कहा कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन महिलाओं के बिना अधूरा है। महिलाओं की तेज होती सक्रियता ने कस्तूरबा, कमला नेहरू, सरोजिनी नायडू जैसी महिलाओं को बाध्य किया वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना सक्रिय योगदान दें। गाँधी जी के व्याख्यानों से प्रभावित होकर महिलाओं ने बढ़–चढकर तन, मन, धन लगाकर सक्रिय योगदान दिया।

1930 में पूरे देश में नमक सत्याग्रह चल रहा था। इसी दौरान 21 मई को गाँधी जी की गिरफ्तारी हो गयी। इस गिरफ्तारी से देश में उबाल आ गया। पुरुषों के साथ–साथ हजारों की संख्या में महिलायें भी इस आन्दोलन से जुड़ी और बाहर आईं। सरोजिनी नायडू, स्वरूप रानी नेहरू, कस्तूरबा गाँधी, कमला नेहरू आदि की गिरफ्तारी हुई। नमक सत्याग्रह के दौरान नैनीताल में महिला समाज में अभूतपूर्व जागृति फैलने से विमला, जानकी, भागीरथी, पदमा जोशी, सावित्री, शकुन्तला आदि महिलाओं ने खुलकर आंदोलनों में भाग लिया। अल्मोड़ा में श्रीमती दुर्गा पन्त व बच्ची देवी के नेतृत्व में 100 से अधिक महिलाओं का संगठन बना। सन् 1931 में बागेश्वर में महिलाओं का एक बड़ा जुलूस निकला। पुनः 28 जनवरी 1931 को गाँधी जी आदि नेताओं के जेल से छूटने की खुशी में एक बड़ा जुलूस निकाला गया। इस

इलाके का यह पहला और तब तक का सबसे बड़ा जुलूस था जिसमें पुरूषों के साथ 2000 से अधिक महिलाओं ने भाग लिया था। बागेश्वर जैसे दूरस्थ ग्रामीण इलाकों में भी जुलूसों में महिलाओं की संख्या और विदेशी कपड़ों की होली जलाने की घटना बढ़ती जा रही थी। 27 फरवरी 1932 को कुमाऊँ की 8 महिलाओं को गिरफ्तार कर फतेहगढ़ जेल तथा पदमा जोशी को अकेले लखनऊ जेल भेजा गया।

वस्तुतः चाहे वह कोई भी क्षेत्र हो अथवा राज्य, महिलाओं को विकास की धारा में सम्मिलित किये बिना एक स्वस्थ एवं सुखमय समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समग्र रूप से किसी समाज अथवा क्षेत्र का विकास तभी संभव है जब कि विकास एवं नियोजन के अन्तर्गत महिलाओं की भागीदारी की समुचित व्यवस्था हो। उत्तराखण्ड हिमालय के क्षेत्रीय विकास एवं नियोजन के संदर्भ में यह दृष्टिकोण और भी अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि उत्तराखण्ड की सामाजिक, आर्थिक संरचना में महिलाओं का अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा अतुलनीय योगदान है। वर्तमान सामाजिक, आर्थिक परिवेश में आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण महिलाओं में आत्मशक्ति और आत्म विश्वास उत्पन्न करके उन्हें जागरूक नागरिक तथा आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाया जाये। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार उत्तराखण्ड की औसत साक्षरता दर 68.6 प्रतिशत थी जिसमें पुरुष साक्षरता दर 77.0 तथा महिलाओं का प्रतिशत 59.6 प्रतिशत था। इस प्रकार सन् 2001 में यहां पुरुष और महिला साक्षरता के बीच 17.4 प्रतिशत का अन्तर था। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार यहां औसत साक्षरता दर 78.82 प्रतिशत था जिसमें पुरुष एवं महिला साक्षरता दर क्रमश 87.40 और 70.01 प्रतिशत था। इस प्रकार सन् 2011 में उत्तराखण्ड में पुरुष और महिला साक्षरता के बीच 17.39 प्रतिशत का फासला रहा। स्पष्ट है कि एक पूरे एक दशक में प्रदेश के साक्षरता दर में 10.22 प्रतिशत की बढोतरी दर्ज की गई लेकिन पुरुष एवं महिला साक्षरता दरों के बीच का फासला कम नहीं किया जा सका। एक दशक में 0.01 प्रतिशत की वृद्धि को किसी भी तरह से संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। यह चिन्ताजनक है। क्योंकि वास्तविक अर्थों में आज तक महिलाओं ने ही यहां के सीमान्त और दूरदराज क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक जीवन को संभाल कर रखा है। सच कहें तो वही उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था और जीवन की धुरी है। उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था तथा सामान्य जीवन और प्रकषति के प्रबन्धन का मुख्य दायित्व महिलायें ही निभा रही हैं। इसके बावजूद उन्हें सामाजिक, आर्थिक रूप से उपर उठने का समुचित अवसर कभी नहीं मिला। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि उत्तराखण्ड की नारी साक्षर नहीं है अथवा बुनियादी शिक्षा का लाभ नहीं उठा पाई है।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में जहां एक ओर महिलाओं ने देश की स्वंत्रतता के लिए संघर्ष किया वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनका झुकाव सामाजिक मुददों की ओर विशेषरुप से देखने को मिलता है। सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में पर्वतीय महिलाओं के

योगदान की एक लम्बी श्रृष्खला उपलब्ध है जो समाज के विभिन्न पक्षों में दिखाई देता है। चाहे मद्यपान निषेध हो या जंगल कानून और पंचायती शासन उत्तराखण्ड के विकास के लिये यहां की महिलाओं ने सतत् संघर्ष किया है।

विशनी देवी शाह, टिंचरी माई बनाम इच्छागिरी माई, तुलसीदेवी, रेवती उनियाल, गंगोत्री गर्ब्याल, राधा भट्ट विमला बहुगुणा, विश्व प्रसिद्ध चिपको वूमेन गौरा देवी, बौणी देवी, खीराकोट आन्दोलन की कर्णधार मालती देवी, प्रतिभा मिश्र, तारा मिश्र, डॉ. वंदना शिवा जैसी वीरांगनाओं ने इस संघर्ष को उसके निर्णायक परिणाम तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन सबकी जन्मभूमि एवं कर्मभूमि उत्तराखण्ड ही रही है। सभी जानते हैं मद्यपान जो संपूर्ण उत्तराखण्ड को सुरसा के मुख के समान निगलने को आतुर है, का विरोध करने के लिये जन आन्दोलन का आह्वान करने वाली भी महिलायें ही थी। मद्यमान से उजड़ते हुए घरों और नष्ट होती हुई संस्कृति की पीड़ा की वास्तविक सिसकारी भी नारी के मुख से निकली है। इसलिये उसने अपना सर्वस्व दाँव पर लगाकर मद्यनिषेध आन्दोलन का नेतृत्व किया। उत्तराखण्ड राज्य को लेकर चला आन्दोलन मात्र आन्दोलन नहीं बल्कि उसकी संपूर्ण अस्मिता पर लगे प्रश्न का ज्वलंत प्रत्युत्तर था।

सूचना और ज्ञान की नई रोशनी से भी यहां की नारी अछूती नहीं रही है। शिक्षा, प्रशासनिक सेवा, तकनीकि व स्वास्थ्य सेवाओं में भी वह आज अग्रणी है। वह घर व बाहर दोनों जगह का कार्य संभाले हुए है। यह इसलिये भी संभव हो सका है कि यहां की महिलाओं ने कम साधनों में जीना सीखा है। पर सवाल उठता है कि ऐसी कर्मठ एवं संघर्षशील नारी का जीवन आज भी क्या सुधर पाया है?

सच तो यह है कि आज भी उत्तराखण्ड की नारी अनेक विडम्बनाओं से घिरी जिन्दगी जीने को मजबूर हैं क्येंकि सामन्ती उत्पीड़न एवं पुरूष सत्ता से वह ग्रसित है। अनेकों रूढ़ियों, अंधविश्वासों से ग्रस्त ग्रामीण वातावरण में अपने अस्तित्व को विलीन करके जीने को मजबूर है। गाँव के पुरूषों के पलायन के कारण परिवार का सारा दायित्व महिलाओं को वहन करना पड़ता है। संपूर्ण परिवार की केन्द्र बिन्दु होकर भी गुमनामी का जीवन जीने वाली यह नारी स्वयं के प्रति बेखबर रहने को मजबूर है क्योंकि नारी के स्वास्थ्य की चिन्ता करना एक हेय बात है। उत्तराखण्ड राज्य के लिये आन्दोलन चलाने वाली यह नारी उस नदी के समान प्रतीत होती है जिस पर अकारण अनावश्यक बाँध बना दिया गया था और अकस्मात अवसर आ जाने पर सारे बंधनों को तोड़ निर्बाध गति से वह अपने लक्ष्य को पाने के लिए वह निकली पडी हो। यही कारण है फूल सी दीखने वाली यहां की महिलाएं नारी–आन्दोलन के लिये चिंगारी का पर्याय बन गई हैं। अपनी दृढ़ता, सहनशीलता, साहस एवं सतत् संघर्षशीलता के गुणों के कारण उसने आज भी सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक सभी जनआन्दोलनों को निरन्तर सजीव व सक्रिय बनाये रखा है।

गीत का अर्थ और अनर्थ

– ऋषिवंश

गीतों से पाला किसका नहीं पड़ता? शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसके मन को किसी ना किसी गीत ने कभी न कभी आनंदित न किया हो या गुदगुदाया न हो। पर कम ही ऐसे लोग होते हैं जो गीतों की गहराई तक जाते हैं, उनके बनने की प्रक्रिया का आनंद उठाते हैं तथा उन भावों की गहराई में गोते लगा पाते हैं। दुनियां भर में हुए अनेक शोध अध्ययनों से पता चलता है कि गीतों में मानसिक विशाद को साधने की अनोखी और अद्‌भुत क्षमता होती है। जाने–अनजाने गीतों के हीलिंग इफेक्ट से हर व्यक्ति उपकृत होता है। गीत निजी व सामुहिक वातावरण में त्वरित परिवर्तन लाने तथा सामाजिक और राजनैतिक बदलाव का माहौल तैयार करने के कारगर माध्यम सिद्ध होते हैं। देश में प्रौढ़ शिक्षा आंदोलन को सफल बनाने में न जाने कितने ही गीतों ने अपना योगदान दिया होगा। लीक से हटकर लिखे गए इस लेख में पाठकों को 'गीत' के अन्दर झांकने का एक अवसर प्राप्त होगा।

गीत, मतलब 'गाया हुआ'। यही शाब्दिक अर्थ है गीत का। अब प्रश्न उठता है–क्या हुआ? किसके द्वारा गाया हुआ? किसके लिये गाया हुआ? किस विषय में, किस विधि से और कैसे गाया हुआ?

यह एक सर्वकालिक प्रश्न है – आखिर गीत क्या होते हैं? कैसे उपजते हैं?
बड़ा ही मार्मिक और सूक्ष्म विषय है यह। और इसका ज्ञातव्य उत्तर है–
– निर्गुण–निराकार परमात्मा अर्थात् शाश्वत सत्य को गाया हुआ,
– आत्मा अर्थात् कवि ने आत्मचैतन्य द्वारा प्रथम सुना, फिर गाया हुआ,
– स्वान्तः सुखाय के साथ जीवन को संबल देने, आमजन और लोक के लिए गाया हुआ,
– निर्मल मति, विमल बुद्धि, कूटस्थ चेतना द्वारा निर्विकार–तुरीयावस्था में गाया हुआ,

अर्थात् – कवि का आत्मचैतन्य तुरियावस्था में रहकर परा–पश्यंती और मध्यमा वाणी से वैखरी वाणी में उतरकर, निराकर, निर्विकार चिराशाश्वत सत्य का उद्‌गीथ गायन सुनता है। यह सामगायन, एकल विरही आत्मा द्वारा, परमात्मा की याद में हुआ। गीत के प्रसवकाल में आत्मा की तुरीया अवस्था होने के कारण, कोई सांसारिक विषय, पीड़ा, आकार, रूप, राग–द्वेष, प्रतिबद्धता और एषणा नहीं होती। जो कुछ भी कवि की तुरीयावस्था में गाया हुआ है – वैखरी वाणी में – वहीं गीत है। और 'उद्‌गीथ'–अर्थात् परमात्मा की वाचक 'प्रणव' – (ओमकार) ध्वनि, जब 'उद्‌गीथ' रूप में होती है – तब कवि 'उद्‌गीथ' – और 'उद्‌गीथ' गीत ही हो जाता है।

अर्थात् – गीत लेखन के लिए, कवि का तमाम कामनाओं, प्रतिबद्धताओं, राग–द्वेष, द्वन्द्व–वैषम्य, संघर्षों आदि से सर्वथा मुक्त हो, तुरीयावस्था में पहुंचकर सर्वथा शुद्ध, बुद्ध विमल–निर्मल आत्मस्थिति में स्थापित होना एक आवश्यक अनिवार्य शर्त है। ऐसी दशा में ज्ञान तो होता है, लेकिन कोई सांसारिक विषय नहीं उपस्थित होता। केवल और केवल सत्य ही उस समय चेतना के ज्ञान में प्रकाशित होता है।

अर्थात्–आत्मा की तुरीयावस्था को प्राप्त हुआ कवि ही गीत सुन, गा और रच सकता है। सबके बस की बात वास्तविक 'गीत' लेखन नहीं है। इसके साथ ही गीत का ध्वनि तरंग संवाहक वाणी के पास परा, पशयंती और मध्यता वाणी से वैखरी वाणी तक उत्तर सकने की सामर्थ्य भी चाहिए। साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं का प्रस्फुटन, वैखरी वाणी में ही संभव है। परा, पश्यंती और मध्यमा वाणी तो अत्यंत रहस्यमय, दुरूह, दिव्य, अव्यक्त, अमोघ–भविष्यवाणी सी होने के कारण – इनमें मनुष्यों के लिए वर्णन संभव नहीं। सांसारिक कलाओं में संचरित होने के लिए चैतन्य का वैखरी विस्फोट आवश्यक है। इसी में जीव और जगत के विषय और पीड़ाएं, मानवीय गीत के रूप में ढलेंगी। परा वाणी तो अत्यंत गूढ़, अव्यक्त, दिव्य और मानवों को अग्रहणीय है। अनादिकाल से मनुष्य के साथ जुड़ा है, रोना और गाना। सुख हो, तो गाना, दुख हो तब गाना। शुभ हो, तो गायन, अशुभ हो तो गायन। जन्म हो तो गीत, मरण हो तो गीत।

अर्थात्, गायन सृष्टि और सृजन की महामाया में, प्रत्यक्ष रूप से, ब्रहाण्ड के कण–कण में अनवरत जारी रहने वाला आवश्यक व व्यापक कर्म है। अपने–अपने निर्धारित व निश्चित काल, क्रम व परिपथ पर से गुजरना ही, वस्तुतः लय है। इसमें एक निश्चित आवृति और तीव्रता होती है। ऐसी तमाम प्रेय सामायिक लय, गेय होकर गायन हो उठते हैं। जीवन की नाव को खेने वाला गायन निःसंदेह एक विस्मयकारी ऊर्जास्रोत कहा जा सकता है, जो विभिन्न संवेगों वाले, विभिन्न अवसरों पर मनुष्यों, मानवेत्तर जीवों तथा स्वयं महाप्रकृति को भी जीवनयापन हेतु शरण और शक्ति देता है। प्रकृति में सब कुछ एकदम लयबद्ध चलता है, किसी गीत जैसा ही।

सूरज, पृथ्वी, चाँद–सितारे व अन्य ब्रह्मांडीय ग्रहों के अपने–अपने निर्धारित कक्ष–पथ पर चलने, घूर्णन करने वाले ज्योतिषीय गतिचक्रों; निमेष, अयन, पल, दिवस–रात्रि, मास, वर्ष उत्तरायण–दक्षिणायन एवं संवत्सरीय अंतर वाले कालचक्रों; शीत, ग्रीष्म पावस, वसंत आदि की मौसमी गतिशीलता वाले ऋतुचक्रों; वनस्पतियों, जीव–जंतुओं, कीट–पतंगों आदि के प्रजनन, संवर्धन, परिवर्तनीय मरणधर्मा जीवनचक्रों के अनगिनत दृष्ट–अदृष्ट लय, अल्प अवधि वाले मानव जीवन में तो, पग–पग पर रेखांकित होते ही हैं; किन्तु इससे भी अधिक, अनंतकाल तक प्रवाहित होने वाले अज्ञात जीवन और सृजन रूपी रंगमंच पर, जीवन–नाटक

में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न आरोहों–अवरोहों वाले शाश्वत गीतचक्र सिद्ध होते हैं। और निःसंदेह ऐसे गीतचक्र सदैव सर्वकालिक हुआ करते हैं।

अर्थात् गीत या गायन सदा–सर्वदा के लिए होते हैं। बीच की अतिव्यस्त तथा क्रमशः दुरूह होती जा रही जीवन शैली, तथा तुरत–फुरत व मात्र तात्कालिक सुख समाधान वाली जीवनदृष्टि के काल में, कभी–कभी ऐसा लगा कि सदैव से मानवों से जुड़ी व प्रिय रही गीति परंपरा, अब शायद वैसी की वैसी उपादेय और प्रिय नहीं रही, किन्तु ऐसा कैसे हो सकता है?

यह कि, संपूर्ण सृष्टि की पृष्ठभूमि में लगातार एक चिर शाश्वत गीत या प्रणवनाद चलता ही रहता है। वैसे ही मनुष्य के भीतर भी लगातार एक अंतर्नाद 'उद्‌गीथ' के रूप में जारी रहता है। ऐसे में अलग से गीत की रचना करना, एक मानवीय अभियान ही कहा जाएगा। मानव जीवन को संबल देने के लिए सहयात्री के रूप में विकसित हुए हैं गीत।

मानव जीवन में मनुष्य के गठन, स्वभाव तथा निर्धारित जीवन क्रम के सिलसिले में, तरह–तरह के भावों, संवेगों, कटु वास्तविकताओं – यथार्थों से उसका पाला पड़ता ही रहता है। हृदय की चाह, आंतरिक भावनाएं, एषणाएं, संघर्ष और पीडाएं तमाम दर्द, अन्याय, असमानताएँ। ऐसे में कभी न कभी आदमी को ऐसी स्थिति में आना ही पड़ता है, जब उसकी समस्त चेतना और भावनाएं, एक गेय वेदनात्मक विस्फोट के साथ, वैखरी रूप में प्रसवित–प्रकट हो उठें। वैखरी वाणी ही 'शब्द' बनकर गीत के रूप में मूर्त हो उठते हैं। वैसे गीतों के विषय अमूर्त हैं, लेकिन कवि–गीतकार की तीव्र आंतरिक भावनाओं का विस्फोट उसे मूर्त कर देता है। मूर्त होने पर गीत समस्त सृष्टि को प्रभावित व आप्लावित कर सकता है। वैसे ही–जैसे 'उद्‌गीथ' समस्त विश्व ब्रह्मांड को प्रभावित व प्रकाशित करता है।

स्वर, पद और ताल युक्त 'गान' ही 'गीत' – अर्थात् 'गाया हुआ' है। गीत साहित्य की सबसे अधिक प्राचीन, प्रचलित और जन–जन तक पहुंची हुई 'विधा' है। संस्कृत साहित्य प्रायः 'गीत' ही हैं। त्रिष्टुप, अनष्टुप गायत्री, जगती, बृंहती आदि छंद हैं। सबसे प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्देव' प्रायः 'गीत' विधा में है। 'छान्दोग्य उपनिषद'– विशेषतः 'छन्द' पर आधारित है। 'समावेद' तो 'गीत'– संगीत का घर ही है। कालिदास को आदिकवि माना जाता है – क्योंकि पहली बार करूणापूरित प्रज्ञा में स्थित किसी कवि ने सांसारिक द्वन्द्व और उद्वेग को व्याकुल–पीड़ित हो गुनगुनाया। लेकिन 'गीत' तो इसके बहुत पूर्व से उपरोक्त वेदों, उपनिषदों और संस्कृत वाडगमय में भरे पड़े हैं। कारण? तुरीयदशा को प्राप्त ऋषियों ने प्रकृति के दिव्य गायन को न केवल सुन लिया था, अपितु मुग्ध और आश्चर्यमिश्रित आनंद से वे स्वतः गा उठे थे। वहीं अपने बोध में अनुभूत 'आनंद' और सत्य को, जन–जन में बॉटने और स्वयं बार–बार रसास्वदन करने के उद्‌देश्य से; शोधकर्ता ऋषियों–मनीषियों–योगियों ने, सारा अपना अनुभव – विभिन्न 'छंद' में – वेदों पुराणों और अन्य संस्कृत ग्रंथों में संकलित करने का

अभियान किया। संस्कृत ग्रंथ 'महाभारत' में एक पर्व में वर्णित 'श्रीमद्भावगतगीता' – जो विश्व के प्रसिद्धतम गीतों का संकलन है, और जो युगपुरूष कृष्ण द्वारा, भयंकरतम द्वंद्व में युद्ध क्षेत्र – 'कुरूक्षेत्र' से आम लोगों के लिए गाया गया है – भी 'गीत' ही है, इसी से इसे 'गीता' कहा जाता है। 'गीत गोविन्द', 'गोपी गीत', 'वेणुगीत', 'नान्दगीत', 'प्राणगीत' आदि भी।

प्रयोजन के अनुसार गीत – 'बालगीत', राष्ट्रगीत, अभियान गीत, निर्वाण गीत, मौसम गीत, जन्म गीत (सोहर), मृत्यु गीत, किसानिन के गीत (खेतों में गाने वाले), वीरता गीत (आल्हा), विदेसिया (विरह गीत), प्रेम गीत, जाँत के गीत होते है।

स्वर और ताल में बंधे गीतों को नौंवी–दसवीं सदी में 'प्रबंध' कहा जाने लगा। प्रबंध के प्रथम भाग, जिसमें गीत प्रारंभ होता है – और जिसे त्यागा नहीं जा सकता है – 'उद्ग्राह' को बार–बार दोहरते थे। इसी को 'टेक' भी कहते हैं। 'प्रंबंध' के अंतिम भाग को 'आभोग'। कभी–कभी 'उद्ग्राह' और 'आभोग' के मध्य भी पद होता था जिसे 'अंतरा' कहते हैं। 'अंतरा' का पद प्रायः 'सालगसूड' नामक प्रबंध में होता था। जयदेव का 'गीत गोविंद' 'प्रबंध' मे ही लिखा गया था। लगभग चार सौ वर्ष 'प्रबंध गीतों' का प्रचलन रहा। अब तक कुछ मंदिरों–मठों में पुराने 'प्रबंध' सुनने को मिल जाते हैं।

'प्रबंध' के बाद 'ध्रुवपद' गीतों का काल आया। 'ध्रुवपद' में 'उद्बग्राह' के स्थान पर प्रथम पद 'स्थायी' कहलाया। इससे स्थायी का ही एक टुकड़ा बार–बार दोहराया जाता है। दूसरे पद को 'अंतरा' कहते हैं, तीसरे पद को 'संचारी' और चौथे पद को 'आभोग'। कभी–कभी दो या तीन पदों ंके 'ध्रुवपद' ही मिलते हैं।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने 'ध्रुवपद' को पंद्रहवीं सदी में बड़ा प्रोत्साहन दिया। प्रसिद्ध गायक तानसेन 'ध्रुवपद' के ही गायक थे। प्रायः 'ध्रुवपद'–'आड़ा चौताल', 'सूलफाक', 'तीव्रा', 'रूपक' आदि तालों में गाया जाता है। 'धमार' ताल में अधिकतर 'होरी' गायी जाती है। चौदहवीं सदी में, अमीर खुसरों ने 'ख्याल' गायकी का प्रारंभ किया। पंद्रहवी सदी में 'ख्याल' गायकी पनपी – जौनपुर के शर्की राजाओं के काल में, और पुष्पित हुई, अट्ठारहवीं सदी में मुहम्मदशाह के काल में। 'ख्याल' में दो ही तुक होते हैं – 'स्थायी' और अंतरा।

'गीत' एक अत्यंत प्राचीन विधा है, जिसका व्यापक विकास छायावादी युग में हुआ। गीत में 'स्थायी' और अंतरा होते हैं, जिनमें स्पष्ट भिन्नता आवश्यक है। इस तरह के 'गीत' में जब कुछ अतिविशिष्ट और नवीनतम मौलिकता लायी जाए, तो इसे 'नवगीत' कहा जा सकता है। इससें परिवर्धन आवश्यक है, परिवर्तन नहीं। यदि गीतों की ग्राह्यता और आनंद में वृद्धि हो, साथ ही 'गीत' के पारंपरिक गुणों का ह्यस न हो – तभी किसी को इस दखल का अधिकार दिया जा सकता है। अर्थात् 'नवगीत' में 'गीत' तो नहीं, हां – 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' ही कहा

जा सकता है। ऐसे गीत जिनमें निषिद्ध, शुल्क, अर्थहीन व खटकने वाले अक्षर व शब्द प्रयुक्त हों – उन्हें 'बहिर्गीत' या 'निर्गीत' कहते हैं।

'गीत' क्या है, कैसे बनता है? गीत के विषय उद्‌देश्य, विधान, क्षेत्र उपलब्धि प्राप्य क्या हैं? गीतों की व्याप्ति क्या है? ढ़ेरों जिज्ञासाएं हो सकती हैं, गीतों के बारे में। अपने–अपने हार्दिक गठन और आंतरिक भावनाओं के अनुसार सबके अपने–अपने मंतव्य तथा पसंद–नापसंद हैं। वैसे ही सबकी अपनी–अपनी परिभाषाएं भी होंगी। किन्तु इसमें शास्त्रों को ही प्रमाण माना जाएगा। एक ही सत्य को अलग–अलग कहेंगे, जबकि सत्य तो एक ही होता है। गीतों के विषय में भी अलग–अलग तर्क, उपमान, परिभाषाएं, समीक्षाएं, विधाएँ, शैलियाँ, वर्गीकरण प्रस्तुत किए जाते हैं, लेकिन इनका सच एक ही है।

गीतों को मात्र सत्य का आधार है। सत्य की अनुभूति गीत की अनिवार्यता है।

एक माँ शिशु के साथ आँगन में लेटी है। अचानक शिशु, शुभ्र, शीतल, मृदुल, मनोहर चंद्रमा को देख मचल पड़ता है। चंद्रमा न तो माँ द्वारा लाया जा सकता है, न शिशु द्वारा। अब बालक हृदयग्राही चंद्रमा के लिए रो पड़ता है। वह रोता ही जाता है, कारूणिक रूदन करता है। फूट पड़ा कारूणिक रूदन ऐसे ही गीत फूट पड़ता है। इनका कोई लाजिक या तर्क नहीं होता। विशुद्ध, हृदयग्राही और विश्व के कालजयी गीत ऐसे ही प्रकट होते हैं। ये अनुभूति, अभिव्यक्ति, संप्रेषणीयता और लोकग्रहिता से छलछलाते हैं। ऐसी अनुभूति, जन–जन को स्वानुभूति ही लगती है। गीत के लिए कोई तर्क, प्रतिबद्धता कमिटमेंट, बंधन कोई विशेष शैली नहीं। जैसे फूल की खूशबू ली जाती है, न कि उसकी अंखड़ी–पंखड़ी नोंचकर मीटर चेक करते फिरें। गीतों का कोई वर्गीकरण भी नहीं। अवसर और प्रयोजन के आधार पर गीतों का बालगीत, राष्ट्रगीत, पावसगीत जैसे नाम दिए जा सकते हैं। गीतों का कोई 'रेजिमेंटेशन' भी नहीं होता। जो हृदयग्राही, लोकग्राही और लोकहित में नहीं, वह गीत नहीं। जो बरबस होठों पर आने को न मचले, वह गीत नहीं, कुछ और होगा। जो पाठक को संबल, साहस, समाधान या सुख नहीं देते, वे गीत नहीं। जैसे बेतरतीबी से जंगल में खिलने वाले फूलों को कोई दिशानिर्देश या मार्गदर्शन ही नहीं दिया जा सकता वैसे ही गीतों का कोई 'गाइड' या 'नियम' नहीं। काव्य या गीत को 'रेजीमेण्ड' नहीं किया जा सकता। मानव निर्मित बाग–बगीचों के कारण बेतरतीब जंगल को खारिज नहीं किया जा सकता। तर्क और बौद्धिक हठ से गीत नहीं उपजते – फिर भी ऐसे बुद्धिवादी सर्वथा निष्फल ही होते हैं। ऐसे गीत छाप कर बाँटे तो जा सकते हैं, चलते नहीं। दोबारा पढ़ने के लिए इन्हें कोई नहीं ढूँढता।

भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ गीतकार गोस्वामी तुलसीदास कहे जाएगें। जिस उच्च स्तर की शाश्वत निर्मलता, विमलता, शांति, सुख और समाधान युक्त आनंद और संबल की व्याप्ति

तुलसीदास के गीत या रचनाएँ पढ़ने पर, पाठकों के अंदर–बाहर होती है; वैसी अन्यत्र विश्वभर में दुर्लभ है। यही कारण है – तुलसीदास की रचनाएं प्रतिदिन लाखों द्वारा न केवल गायी, बल्कि धूप–दीप से पूजी जाती हैं। भारत के गाँव–गाँव में लाउडस्पीकर लगा कर इनके संकल्प पाठ होते हैं। ये रचनाएं दुख दूर करने, सुख–समाधान पाने की प्रतिनिधि गीत रचनाएँ हैं। रामचरितमानस् विनय पत्रिका, कवितावली, दोहवली किसी भी रचना को कसौटी पर तौल कर देख जाए तो वह गीत के शास्त्रीय विधान पर शत–प्रतिशत फिट बैठती है। अपितु, कुछ और ही नूतन विधान झलकती है। जो गेय है वह गीत है। चौपाई, दोहा, सोरठा, छप्पय, छंद, सवैया, तुलसीदास का सब कुछ अद्बितीय है।

अस्तु, तुलसीदास की रचनाएँ संपूर्ण समाज द्वारा आदर्श मार्गदर्शक के रूप में मान्य हैं। भारत में तो इसकी जन–जन तक व्याप्ति है। ऐसा दूसरा गेय उदाहरण विश्व में कहीं नहीं। इसीलिए तुलसीदास विश्व के सर्वाधिक प्रचलित, मान्य और अपनाए गए गीतकार है।

इसी प्रकार कबीर, मीरा, सूरदास, नानक, केशव, जयदेव, कालिदास आदि की गेय रचनाएँ भी भारत ही नहीं विश्व को आप्लावित करती हैं। लोकहित और लोककामनाओं को सर्वलोक तक सहज संप्रेषित करने वाली ये और ऐसी तमाम रचनाएँ और रचनाकार हैं। काश्मीरी शैवमत तथा दक्षिण भारतीय परंपराओं में बड़े लोकप्रिय गीतकार कवि हुए हैं। महाराष्ट्र–गुजरात में तुकाराम के अभंग पद, घर घर बजे। नरसी मेहता आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं।

बाद में फिराक, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत महादेवी, महकवि निराला आदि के कालजयी गीत आए, और छाए। इसके और अगली पीढ़ीयों में अंचल, बच्चन, नेपाली, पं. नरेन्द्र शर्मा, 'नवीन', नीरज, भवानीप्रसाद मिश्र, वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ आदि के गीतों में भी कालजयी गीतों को पाया जाता है। तमाम अनाम गायकों के भी अमरगीत सुनने को मिलते रहते हैं।

वर्तमान में गीत तो खूब लिखे जा रहे हैं, लेकिन सूक्ष्म अनुभूति के आधार इनके पास नहीं है। वर्तमान के गीतों में अधिकतर 'निर्गीत' या बहिर्गीत ही हैं। इनमें तमाम व्यर्थ शुष्काक्षरों का प्रयोग, आधुनिकता के नाम पर हुआ, उसी ने इसे खत्म करना शुरू कर दिया। भोगे गये यथार्थ के नाम पर लिखे जा रहे इन गीतों की ठठरी तो वही है, लेकिन आत्मा निकल गई है। जैसे कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए आधुनिक रासायनिक खाद व कीटनाशकों का जरूरत से अधिक प्रयोग और उपयोग हुआ – तो जमीन ही बंजर होने लगी है। ऐसे कृषि उत्पादन इंसानों को बीमार कर रहे हैं। वैसे ही हजारों की तादाद में पैदा हुए गीतकारों ने इस विधा पर संकट के बादल पैदा कर दिए हैं। आज के कवियों–गीतकारों ने अपने–अपने हिसाब से गीत रचे, मंतव्य और परिभाषाएँ दीं। उसी प्रकार अपनी–अपनी गति और मति के

गीत उन्होंने धड़ाधड़ लिखे। तमाम गीत लिखे गये। पुस्तकों पर पुस्तकें छपीं, बंटी और पारस्परिक प्रशंसित भी हुई। लेकिन, अफसोस! बेचारे ये अभागे अधूरे गीत, लोकसंग्रह में नहीं आ सके।

कारण?वही। न वह विमल–निर्मल गति मति का आधार, न आत्मदर्शन, न 'उद्गीथ' न 'वैखरी' और फलस्वरूप, न तो लोकसंग्रह ही। बस, अपने मत, गुट, संस्था और 'क्लास' के प्रति कटटर प्रतिबद्धता ने ऐसे रचनाकारों को पंगु कर रखा है। रचनाकारों की 'उड़ान' पर 'वादों' के फंदे पड़ने से तो, स्थिति और भी एकांगी दुर्भाग्यपूर्ण, और गीत के लिए विनाशक हो उठती है। ऐसे ही अपूर्ण वैचारिक मंतव्यों व परिवर्तनों के आधार पर, गेय रचनाओं, अर्थात् गीतों पर पहले के कुछ साहित्यकारों ने अपनी–अपनी 'गाइड लाइन' और नियम दिये। इसी क्रम में तरह–तरह के मात्रागत, भाषा–शैलीगत वर्गीकरण और नामकरण भी किए गए। गीतों के इतिहास में अपना नाम दर्ज कराने के लोभी रचनाकारों ने इतने अपूर्ण, असिद्ध, असत्य और दुरूह–असहज बदलाव व वर्गीकरण किए, जिसने गीतों की अमर गेयता को लाभ की जगह हानि अधिक पहुँचायी।

वह तो 'उद्गीथ' है, जिसे सत्य के आधार और विमलता के कारण कभी खत्म किया ही नहीं जा सकता। 'नयी कविता' इन्हीं जैसों की पैदावार है, और इन्हीं द्वारा 'फीड' रासायनिक खाद से अब खात्मे की ओर तीव्रता से अग्रसर है। भारतीय जनमानस तो इसे तनिक भी पसंद नहीं करता।

यह भी एक तथ्य है कि बड़े चर्चित कवि–गीतकार, जिन्होंने गीतों से शुरूआत की थी, और अच्छे खासे गीत लिखते थे – संभवतः – कोई विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि की उम्मीद न होने से – 'नयी कविता' में कूद पड़े। ऐसे वर्ग का कथन है, भोगे हुए यथार्थ और आधुनिक शोषण, वैषम्य–जिस प्रभावी सरलता से 'नयी कविता' में कथ्य रूप में वर्णित होते हैं – वैसा पूर्व की सर्वमान्य गीत विधा में संभव ही नहीं। पर उनकी बौद्धिक समझ सही आकलन नहीं कर पाई। नयी कविता शुष्क, काव्यगुणों से अधिकतम अंशों में वंचित और सर्वथा असहज होने से, भारतीय जनमानस में कभी जमी ही नहीं। गिने चुने कवियों और बुद्धिजीवियों, संपादकों, आलोचकों की सतत हलचल से, अभी 'नयी कविता' जिन्दा तो है किन्तु मृतप्राय।

जिन तथ्यों और कारणों से गीत के बाद 'नयी कविता' को रोपा गया था, लगभग उन्हीं आधारों पर कुछ गीतकारों ने 'गीत' में 'नव' उपसर्ग लगाकर 'नवगीत' रचने प्रारंभ किए। गीतों से इन्हें उन्नत, विकसित और प्रभाव की दृष्टि से पूर्ण बताते हुए, पहले तो प्रकृतिगत वर्णनों के अंतर, फिर कथ्य में खबरों की शैली में तथ्य और घटनाएँ वर्णित करने की बहुतायत

प्रारंभ हुई। जब तक प्रकृति के वर्णनों के चमत्मकारिक प्रयोग रहे, तब तक – लालित्य और सौन्दर्य के कारण 'नवगीत' नाम बढ़ता गया। बाद में गीतों को ही, उनकी पंक्तियों को छोटा या बड़ा कर, अंतर दर्शाने की कोशिश, फिर यथार्थ के नाम पर शुष्क वर्ग संघर्ष, शोषण, भ्रष्टाचार आदि को धड़ाधड़ 'नवगीत' में परोसा जाने लगा। इसमें कोई 'काव्य गुण' या 'रस' नहीं था। गीत से अंतर के नाम पर तमाम आंचलिक भाषाओं के प्रायः अपरिचित, कभी न सुने गये, क्लिष्ट, अधिकतर अर्थहीन शुष्काक्षरों का प्रयोग, बड़े गर्व से 'नवगीत' में होने लगा। जो जितना अधिक ऐसे बेतुके प्रयोग कर रहा था – उसे उतना बड़ा 'नवगीतों में चमत्कार दर्शाने के बौद्धिक प्रयोग होने लगे। सूचनात्मकता चाहे जो हो, इन नवगीतों में – हार्दिकता और भावनात्मकता का लगातार ह्रास होने लगा। ऐसा दशकों से लगातार छप रहे 'नवगीतों' के पढ़ने, सुनने और गुनने के बाद कहा जा रहा है। आज भी इसे निकष पर कसकर देखा जा सकता है। साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में लगातार – 'नवगीत' का महिमा मंडन इसके कवियों और इसी विषय पर किताबें लिखने वाले आलोचक तत्वों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग से, प्रकाशित की गई। इन किताबों का लब्बोलुआब 'नवगीत' का महिमा मंडन ही था। एक समय स्थिति यह थी कि 'नवगीतकार' कहाने में कवि स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते थे।

अब 'नवगीत' अपनी ऊपरी चमक और चमत्कार खो रहा है। नयी कविता जैसा ही संभवतः इसका भी भविष्य हो। वर्तमान के नवगीतकारों को और अधिक जागरूकता की आवश्यकता है। कोई विशेष प्रज्ञा ही इसकी दशा–दिशा को बदल सकती है। वस्तुतः प्रत्येक शुद्ध गीत ही अपने आप में चिरनूतन 'नवगीत' है, यदि वह 'उद्‌गीथ' से गीत तक ढला हो। क्योंकि 'चिरनूतन नवीनता' ही सौन्दर्य से – विमल उद्‌गीथ सदैव ही नितनूतन नवीनता धारण किए हुये होते हैं। अपनी जड़ों तक लोकव्याप्ति के कारण ही, इतिहास में अब तक 'गीत' – शाश्वत और सर्वप्रिय बने हुए हैं। इतने सारे अंतर्विरोधी बयानों, प्रमाणों और विरोधी स्वरों के अभियानों के बाद भी, आज भी गीत जनता से सीधे जुड़े हुए हैं। जो नित्य नूतनता धारण किये होता है – वही नवीन है – यही 'नवता' है।

सरलतम ग्रामीण, नगरीय जीवन शैलियों के क्रमबद्ध, लयबद्ध भावमय वर्णन, आख्यान 'लोकगीतों' में मिलते हैं। लेकिन वर्तमान के नवगीतों की पहुँच 'आमजन' और 'लोक' तक होना संभव नहीं दिखता। यद्यपि इसे 'आमजन' और 'लोक' का सबसे बड़ पैरोकार, नवगीत के प्रवर्तक और प्रणेता साबित करते हैं।

इन सबका मात्र एक कारण है। गीत रचना के लिए अनिवार्य आधार और योग्यता, ह्रदय की पवित्रता प्रपंच से मुक्त विमल मति और रागद्वेष से रहित विशुद्ध गति, इन नवगीतों को नहीं मिल पा रही है। प्रतिबद्धता एवं भेददृष्टि के अंतर्गत आये भाववेश – इन नवगीतों को पूर्ण नहीं होने देते। इसीलिए अभी तक महिमामंडित और लगभग पाँच–छह दशक पूर्व नामित

नवगीत अब विवाद और ह्रास की जद में आ गयें जबकि पारंपरिक शुद्ध गीत—अपनी मधुरता, लोकप्रियता और पहुँच, तमाम विरोधों और भर्त्सना के बाद भी; बनाए हुए हैं। वस्तुतः आवश्यकता से अधिक शुष्क बुद्धिवादी प्रयोगों के बोझ और व्यक्तिगत प्रशंसा और यशेषणा ने, इसको बोझिल कर इसका दम निकाल रखा है। नवगीत के लगातार हाशिये पर जाने का एक प्रमुख कारण है — आज के नवगीतों में प्रयुक्त शब्दों की तलाश में भटकती नवगीतकारों की चेतना। शाब्दिक चमत्कार के चक्कर में, तथा कुछ न कुछ 'नवता' देने के उद्देश्य से भारी श्रम कर सर्वथा असहज एवं अप्रचलित, क्लिष्ट आंचलिक शब्द, वर्तमान के नवगीतों में जबरन ठूँसे जा रहे हैं। पद के भीतर, पंक्तियों के शब्दों को घटा या बढ़ाकर पंक्तियाँ छोटी या बड़ी कर तुक मिलाने के सतही प्रयास, इनमें स्पष्ट झलकते हैं। प्रतिपाद्य विषय जैसे स्पष्ट रूप से ठहरा नहीं था, नवगीतकार के हृदय में, जब वह इसे रच रहा था। फिर पाठक और श्रोता के हृदय और चेतना में भला ये कैसे ठहरते?

वस्तुतः जैसे हर आदमी अपने समकालीन प्रचलन, फैशन के अनुसार कपड़े पहनता है, वेशभूषा, बोलबानी करता है। भोजन—पानी भी समकालीनता के हिसाब से ही प्रयोग किया जाता है। आज बोतलबंद पानी, आमजन को भी मान्य हैं। जनता की सोच—शैली, प्रायः समकालीन प्रचलन के अनुसार ही चलती है। लेकिन इसमें जनता को 'नया आदमी' नहीं कहा जाएगा। यह समकालीनता, कोई नवता है ही नहीं। नवता तो प्रत्येक क्षण बदलती रहती है। नवता एक क्षण के बाद ठहरती ही नहीं। यह तो 'नित नूतन' है — जो प्रत्येक क्षण नवीन है वही है 'नवता'। 'नित नूतन नवीनता'.। इसके लिए नवीन योजनाएं नहीं बनानी पड़तीं। समय के अनुसार भारतवासी धोती—कुर्ते के स्थान पर आज पैन्ट—शर्ट पहनता है। यह कोई 'नवीनता' नहीं है। अभी पैन्ट शर्ट लगातार बना हुआ है, किन्तु नवता तो — 'क्षणे—क्षणे नवं' याति'। क्षण—क्षण पर जो बदलती है, वही नवीनता है। क्षण—क्षण जो 'संसरित' होता है — वही है संसारः। 'नवता' लाने के लिए, ऐसी किसी पारिभाषिक या यांत्रिक, शुष्क—प्रयोगों की आवश्यकता ही नहीं है। जो 'क्षण' बीत गया, उसके बाद का 'क्षण' सर्वथा नवीन होता ही है, किन्तु मात्र एक क्षण के लिए।

इसीलिए कहा गया है — 'गीत' तो सदा चिर नूतन बने रहेंगे, जबकि 'नवगीत' — बौद्धिक हठ और कवायद के कारण एक 'रेजिमेण्टेशन' है। इसी कारण 'नवगीत' लगातार बोझिल और दूर होते जा रहे हैं। स्वयं में समाधान युक्त न हो पाने के कारण — ये पाठक को भी समाधान या सुख नहीं दे पाएंगे। वर्तमान में नवगीतकारों की लंबी फेहरिस्त है। इनमें से कई की रचनाओं में से कुछ रचनाएँ कालजयी कही जा सकती हैं। ऐसे ही सुधी नवगीतकारों के कारण ही अब तक 'नवगीत' बचा हुआ है। नवगीतकारों को इस विषय में सचेत होना पड़ेगा। वैसे 'गीत' में भी तो आज शुद्ध गीत मिलना दुर्लभ हो चला है। फिर क्या गीत — क्या नवगीत — सब कुछ एक सा ही लगता है।

गेय काव्य में इसके अतिरिक्त दोहा, गजल, छंद, नज्म आदि भी आते हैं। इन काव्य विधाओं में भी लगता है मौलिकता की भारी कमी, और उस वांछित उद्‌गीथ विमलता की अनुपस्थिति, जो 'काव्य' के लिए आवश्यक होती है, स्पष्ट भासती है। इसलिए इन विधाओं में भी कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं दिखती। 'हिन्दी गज़ल' के नाम पर दो चार नामी रचनाकार, ऐसी ऐसी गजलें परोसते हैं – जिन पर हंसी आती है। जो क्लिष्ट एवं बिलकुल ही अपरिचित से हिन्दी शब्द होते हैं – उन्हें काफिया मिलाने के नाम पर इस तरह जबरन फिट किया जाता है कि हिन्दी भाषी आम लोग भी चकारा जाएं। पारस्परिक सहयोग से ये लिखी–छापी जा रही हैं, लेकिन इनका भविष्य साफ दिखता है। दुख की बात यह है कि गफलत में पड़े रचनाकार इस बात का नोटिस ही नहीं ले पा रहे हैं। नीरज जैसे कवि ने ऐसी गज़ल को 'गीतिका' कहा है। 'दोहो' की भी दो चार ही पुस्तकें छपी हैं। यहाँ पर भी वास्तविकता वही है। अति उत्साही 'हिन्दी गज़ल' वाले अपनी हँसी पर स्वयं ही आमादा लगते हैं। जिस हिन्दी का अर्थ हिन्दी भाषी भी नहीं जानता, वही ये प्रयोग कर रहे हैं।

'गीत' तो प्रकृति के कण–कण से झरते हैं। सूर्य के उदय–अस्त में एक क्रम व आवृत्ति है। भोर होते ही चिड़िया–पक्षी चहचहा उठते हैं। हवा गीत सी सरसराती हुई बहती है। नदियाँ भी लहराती–बलखाती, कल–कल, छल–छल करती गीत सुनाती हैं। जीव–जंतुओं की चहल–पहल में भी एक आवृत्ति और गेयता देखी जा सकती है। चंद्रमा की कलाओं में आरोह–अवरोह का गायन है। आदिमानव ने जब खगवृंदों के कलकंठों का गायन सुना होगा, नदियों, झरनों, सागर के नाद घोष में आत्मा की पुकार अनुभव की होगी, उन्मुक्त प्रकृति के प्रांगण में चाँद सितारों की झिलमिलाती रोशनी में, खिलखिलाते फूलों की हँसी में सौन्दर्यबोध को महसूस और आंकलित किया होगा। गीतों की वाणी तभी से फूट पड़ी होगी। वैदिक ऋषियों के वचन हैं – 'तेने ब्रह्म हदा आदि कवये'– अर्थात् कल्प के प्रारंभ में, आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में 'वेद' का प्रकाट्य हुआ।

भारतीय गीतिकाव्य की परंपरा विश्व साहित्य में सबसे पुरातन है। ऋग्देव के पूर्व भी गीत, पूर्ण–परिपक्व व सौन्दर्यमय रहा होगा। वैदिक मंत्रों में स्वर संबंधी निर्देश मिलने से, एवं स्थान–स्थान पर पुरा–उक्थों के कथन से, यह प्रतीत होता है कि मौखिक गीत रचना परंपरा भी अवश्य रही होगी। मानव जीवन के इतिहास के प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' में, इतिहास के सर्वप्रथम 'गीत' पाये जाते है। वे गीत प्रकृति व ईश्वर के प्रति सुखद आश्चर्य, रोमांच एवं श्रद्धा भाव के गीत हैं। ऋषियों ने प्रकृति की सुन्दरता, सुकुमारिता का सजीव चित्रण किया है जो भावमयता व अर्थग्रहण के साथ मनोज्ञ कल्पनाएँ हैं। यजु, अथर्व एवं सामवेद में, इनका पुनः विकसित रूप प्राप्त होता है। साम तो स्वयं गीतों का ही वेद है। ऋषि कहता है – 'ओम अग्न आ याहि वीतये ग्रंणानो हव्य दातये। नि होता सत्सि वर्हिषिं (साम–1)' अर्थात्, हे तेजस्वी अग्नि (ईश्वर) आप ही हमारे होता हो, समस्त कामना पूर्तिकारक स्रोता हो, हमारे

हृदय रूपी अग्निकुंड (यज्ञ) हेतु, आप ही गीत हो, आप ही श्रोता हो, 'अपारे संसारे कविरेव प्रजापति' की सनातन मान्यता को जीते हुए 'कविर्मनीषीपरिभू स्वयं भू' की उपनिषद सूक्ति की प्रामाणिकता के प्रति श्रद्धायुक्त व्यक्ति ही, गीत रचना के समय ऋतम्भरा प्रज्ञा और बैखरी, मध्यमा, अपरा से ऊपर स्थित परा वाणी से संयुक्त हो पाता है। तभी गीतिचेतना सदानीरा नदी सी मानस में प्रवाहित होती है।

लौकिक काव्य परंपरा का श्री गणेश आदि कवि वाल्मीकि से माना जाता है। यहीं से काव्य में वर्णनात्मकता के स्थान पर गीति–काव्यात्मकता का प्रवेश हुआ। विश्व की सर्वप्रथम मानवीय कथा उर्वशी–पुरूरुवा की विरह कथा एवं क्रौंच वध की घटना के कारण, आदि कवि में पीड़ा–संवेदना द्वारा उत्पन्न काव्य के कारण ही परवर्ती काल में, काव्य में, कवियों में 'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।' ऐसी एकल धारणा बनी। यह पूर्ण सत्य नहीं है। वस्तुतः पूर्ण सत्य यही है कि प्रथम गीत–कविता प्रकृति के सुखद आश्चर्य मिश्रित रोमांच के कारण ही रची गयी एवं गीत में भावों एवं रसोद्वेगों की उत्सर्जना विभिन्न संवेदनाओं, सुख–दुख, प्रेम श्रृंगार सौन्दर्य, आश्चर्य, शौर्य सभी गीतों में उद्भूत होते हैं।

आज हिन्दी काव्य में मात्रिक छंद मात्र के रूढ़ प्रयोग और भाषायी जटिलता के कारण, छंद रूपी साधन तो बना रहा, किन्तु साध्य लय, पीछे छूटती चली गयी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था – 'गीत मन की मुक्त अवस्था की अभिव्यक्ति है'। परिभाषा देते हुए आचार्य ने कहा था 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था' 'ज्ञानदशा' कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था 'रसदशा' कहलाती है। इसी रसदशा के लिए वाणी जो विधान करती है वही कविता है। गीत सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य है। गीत मानजीवन का स्वर है, मनुष्य की स्वयं तथा लोक पर जय यात्रा का प्रारंभिक चरण।

कहाँ तक कहा जाए, गीत संपूर्ण मानवीय संवेदना के सर्वोत्तम निचोड़ की सार्थक और संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। गीत जब व्यक्तिपरक बन जाता है, तब भी वह समाज के सामूहिक संवेग का ही प्रतिनिधित्व करता है। यह काव्य का सरलतम रूप है। यह वाणी का द्रव है। गीत एक व्यापक अवधारणा है जिसमें गीत, अनुगीत, समगीत, प्रगति, अगीत, गीतिका आदि सब समाये हुए हैं। 'रसो वै सः'।

लोकजीवन अगर कहीं अपने नैसर्गिक रूप में आज भी सुरक्षित है तो वह है गीतों में। जब तक लोक रहेगा एवं लोकजीवन रहेगा, तब तक गीतों में लोकजीवन का स्पंदन विद्यमान रहेगा। भविष्य में भी जब कभी सरस कविताओं की बात होगी तो उसमें गीतों का सर्वोपरि स्थान रहेगा।

गांधी और सहकारिता

– आलोक कुमार

यह महात्मा गांधी के चम्पारण सत्याग्रह का शताब्दी वर्ष है। सूदूर चम्पारण में निल्हे कोठी के किसानों को अंग्रेजों ने व्यापार की सफलता के लिए दास बना रखा था। अप्रैल 1917 में गांधी ने मोतिहारी पहुंचकर किसानों के दासता की मुक्ति का बिगुल फूंका। उसकी धमक से अपराजेय अंग्रेजों की सल्तनत हिल गई। आखिरकार चम्पारण सत्याग्रह के तीस वर्ष बाद अंग्रेजों को बोरिया–बिस्तर बांधकर जाने को विवश होना पड़ा। सत्याग्रहों की सबलता और आत्मप्रयोगों के आधार पर महात्मा गांधी ने आजाद भारत को आत्मनिर्भर बनाने का सपना बुना था। उनमें सहकारी उद्यमिता को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया था। वह भारत को सक्षम एवं स्वावलंबी देखना चाहते थे। उन्हें पता था कि गांवों के स्वभाव में आपसी तालमेल है। सहयोगी चरित्र है। इसलिए ग्रामीणें के बीच सरकारी उद्यमिता का प्रसार आसान है। उन्होंने गांव का विकास सहकारिता से करने की पैरवी की थी। राष्ट्रपिता के सहकारिता से प्रेम का नतीजा रहा कि आजादी के बाद खाली हुए उनके ज्यादातर अनुयायियों ने गुजरात और महाराष्ट्र में सहकारी आंदोलन का दामन थाम लिया। यही काम पंजाब के किसानों ने भी किया। और फिर यह पूरे देश में फैलता चला गया। गांधीजी ने भारतीय समाज और गांवों का अध्ययन सूक्ष्मता से किया था और पाया था कि सहकारिता उनके सादगी वाले प्रयोग के ज्यादा करीब है।

दरअसल, सहकारी उद्यमिता का ध्येय लाभ कमाने के साथ समतामूलक समाज की स्थापना रहा है। सहकारी उद्यमिता का लाभांश भागीदारों के बीच एक निश्चित अनुपात में बांटे जाने की सुनिश्चिता रहती है। इसका मालिकाना हक किसी एक या सीमित व्यक्तियों तक बंधा नहीं रहता है। यह लोकतांत्रिक मूल्यों से चलता है। मसलन किसी सरकारी उपक्रम में बड़े से बड़े अंशधारण यानी निवेशकर्ता के पास सबके समान एक ही वोट का अधिकार होता है। जबकि मलिकाना हक वाले अन्य उद्यमी व्यवस्थाओं में यह एक अथवा सीमित संख्या के मालिकों तक ही सीमित होता है। सहकारिता की इन्हीं खूबियों की वजह से वर्ष 2012 में 97 वां संविधान संशोधन किया गया। इसमें सहकारिता को भारतीयों के मौलिक अधि ाकार में शामिल कर लिया गया है। इस संशोधन के जरिए वर्षों से सहकारी संस्थाओं पर काबिज सांसद एवं विधायकों की छुट्टी होनी थी। लेकिन पारित होने के पहले ही इसे अदालत में चुनौती दे दी गई।

महात्मा गांधी के सपनों के अनुरुप आज भारत भी दुनिया के प्रमुख सहकारी देशों में शामिल है। भारत में सहकारी उपक्रमों की वर्तमान संख्या आठ लाख तैंतीस हजार है। सहकारी संस्थाएं प्राथमिक कृषि समिति से लेकर दुग्ध व उर्वरक उत्पादन, विनिर्माण, वितरण

और विपपण के जैसे सैंकडों कारोबार में सक्रिय हैं। इसके जरिए लोगों को व्यापक रोजगार मिल रहा है। बेरोजगारी पहले से ही हमारे देश की एक बड़ी समस्या है और आने वाले दिनों में इसकी विकरालता और बढ़ने जा रही है। आज सहकारी संस्थाएं भी सहभागिता को विकसित करके रोजगार की समस्या का समाधान कर रही है। इसका नतीजा है कि लघु व सुक्ष्म उद्योग के लिए चलने वाली खादी ग्रामोद्योग जैसी संस्थाओं का मूलभूत चरित्र सहकारिता से मेल खाता है। सहकारिता की खुबियों का नतीजा है कि देश के लगभग 95 प्रतिशत गांवों में सहकारी संस्थाओं की पहुंच बनी हुई है। देश में सहकारी संघों की सर्वोच्च संस्था भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ (एनसीयूआई) के मुख्य अधिशासी एन. सत्यनारायण बताते हैं कि सहकारिता के व्यापक प्रचार प्रसार और सहकारी संस्थाओं के कामकाज में आने वाली दिक्कतों को दूर करने के लिए सहकारिता को स्कूली पाठ्यक्रम में अनिवार्य रुप से शामिल किया जाना चाहिए। महात्मा गांधी के चम्पारण सत्याग्रह शताब्दी वर्ष में सरकार को इस बारे में फैसला कर लेना चाहिए।

सत्तर के दशक में हरित क्रांति लाने और खेतों को फसल से लहलाने में सहकारी उद्यमिता की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी। उसके बाद 'अमूल' जैसी सहकारी संस्था के जरिए भारत में श्वेत क्रांति लाना संभव हुआ। भारत आज दुनिया का सबसे बड़ा दूध उत्पादक देश बन गया है। आज लगभग सभी प्रमुख राज्यों में सहकारी उद्यमिता के जरिए उत्पादित दुग्ध के मशहूर ब्रांड बाजार में प्रचलित हैं। मसलन बिहार में सुधा, राजस्थान में सरस तो मध्यप्रदेश का सांची दुग्ध के स्वाद की धमक हैं। सहकारिता की इन खुबियों को स्कूली स्तर पर बताने से भावी पीढ़ी को सवारने में मदद मिलेगी। श्वेत क्रांति के जनक वर्गीज कूरियन की सादगीपूर्ण जीवन बताता है कि सहकारिता गांधीजी के सपनों के कितने करीब रहा है। दुनियां के उत्पादन उद्यम के प्रमुख होने के बावजूद डॉ. वर्गीज कूरियन अपने आखिरी दिनों में महज पांच हजार के वेतन से आजीविका चलाते रहे।

सहकारिता का डंका सिर्फ भारत में ही नहीं बज रहा हैं बल्कि नीदरलैंड और नार्वे जैसे विकसित देशों के अर्थतंत्र की मजबूती में सहकारिता का योगदान बड़ा है। यूरोपीय देशों के अलावा चीन, जापान और वितयनाम की तरक्की में भी सहकारी संस्थाएं खास योगदान कर रही हैं। बीते माह वियतनाम की राजधानी होनोय में आयोजित एशिया–प्रशात महासागरीय क्षेत्र के देशों के सहकारिता मंत्रियों के सम्मेलन में सहकारिता की सफलता और भविष्य का खाका पेश किया गया। उसके मुताबिक दुनियां भर में सहकारी संस्थाओं के जरिए रोजगार पाने वालों की संख्या बहुराष्ट्रीय कंपनी की उद्यमिता से रोजगार पाने वालों की तुलना में कहीं अधिक है।

सम्मेलन में प्रस्तुत अंतर्राष्ट्रीय सहकारी एलायंस के आंकडे बताते हैं कि दुनियां में सरकारी उद्यमी संगठनों की कुल संख्या पचीस लाख है जिसके डेढ़ करोड़ से ज्यादा लाभांश धारक हैं। जिससे दो सौ पचास करोड़ ज्यादा लोगों की आजीविका चल रही है। वियतनाम सम्मेलन का मकसद संयुक्त राष्ट्र की ओर से निर्धारित स्थायी विकास लक्ष्य 2030 को हासिल

करने में सहकारिता की भूमिका तय करना था। इसमें पारित प्रस्ताव में दुनिया भर में सहकारी उपक्रमों की संख्या बढ़ाकर 40 लाख तक पहुचाने और इसके दायरे में दो अरब से ज्यादा आबादी को ले आने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि बने राज्यसभा सांसद एवं एनसीयूआई के अध्यक्ष ड़ॉ चंद्रपाल सिंह यादव के मुताबिक इस सम्मेलन में सदस्य देशों में सहकारी उपक्रमों के अनुकूल माहौल बनाने के सतत प्रयास जारी रखने पर जोर दिया गया। भारत में सन् 2006 से सहकारी उद्यमिता पर मिलने वाले कर छूट को खत्म कर दिया गया है। इससे सहकारिता के विकास को लेकर उत्साहवर्धक नतीजे लाने में दिक्कत आ रहीं है। इसे लेकर सहकारी संघों का नेतृत्व और सरकार के बीच सतत संवाद का सिलसिला जारी है।

गौरतलब है कि बीते शताब्दी की दशा और दिशा तय करने के लिए जिस तरह महात्मा गांधी ने बीती सदी में ठीक इसी वर्ष 1917 चम्पारण सत्याग्रह किया था यदि, उसी ढंग का ठोस प्रयास मौजूद वर्ष 2017 में किया जाता है, तो यह पूरी इक्कीसवीं सदी को संवारने में मददगार साबित होगा। इस लिहाज से सयुक्त राष्ट्र संघ की स्थायी विकास लक्ष्य 2030 को हासिल करने के लिए सहकारिता की ओर से किया जा रहा प्रयास महत्वपूर्ण है। इस प्रयास में सहकारिता की ओर से दुनियां की आबादी को खाद्य सुरक्षा के दायरे में लाने के लिए उद्यमशील रहना, आर्थिक विकास करना, र्प्यावरण को बचाना और मानवीय मूल्य के साथ काम जैसे मसले शामिल हैं। यदि चम्पारण सत्याग्रह का यह शताब्दी वर्ष असमानता का खात्मा, स्वच्छ जल व शौचालय, वैकल्पिक उर्जा, स्वावलंबीसमाज व शहर जैसे मसलो को लेकर आगे बढ़ती है, तो जाहिर तौर पर मानव सभ्यता को सजाने–सवारने में मदद मिलेगा। सहकारिता की ओर से पूर्व में हासिल उपलब्धियों के मददेनजर यह काम कठिन नहीं लगता है।

- लोकतंत्र और समाजवाद लक्ष्य पाने के साधन हैं, स्वयं में लक्ष्य नहीं ।
- जब संकट और गतिरोध होते हैं तो कम से कम यह फायदा होता है कि वे हमें सोचने पर मजबूर करते हैं।
- संकट के समय हर छोटी चीज मायने रखती है।

–पंडित जवाहरलाल नेहरु

हमारे लेखक

प्रो. भवानी शंकर गर्ग
137 अशोक नगर
रोड नं. 7
उदयपुर
राजस्थान – 313 001

डॉ. भावना ठुकराल
असिस्टेंट प्रोफेसर
मानव रचना विश्वविद्यालय, फरीदाबाद
हरियाणा

डॉ. शिवानी राणा चन्देल
प्रवक्ता, एस.सी.ई.आर.टी.
उत्तराखण्ड

श्री ॠषिवशं
उत्तरायण, मंदिर वाला घर
डायवर्शन रोड, सिविल लाइन्स
सतना (म.प्र.) 485001

श्री महाबीर रवांल्टा
संभावना – महरगांव
पत्रालय – मौल्टाड़ी, पुरोला
उत्तरकाशी (उ.ख.)

प्रौढ़ शिक्षा के लिए लेख आमंत्रित हैं

त्रैमासिक पत्रिका 'प्रौढ़ शिक्षा' (ISSN 2231-2439) प्रौढ़ एवं आजीवन शिक्षा क्षेत्र की एक प्रतिनिधि पत्रिका है जिसका प्रकाशन भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ, नई दिल्ली द्वारा किया जाता है। विगत 60 वर्षों से यह पत्रिका नियमितरूप से प्रकाशित हो रही है।

स्वतंत्र लेखकों, पत्रकारों, प्राध्यापकों, शोध छात्रों एवं प्रौढ़ तथा आजीवन शिक्षा क्षेत्र से जुड़े प्रशासनिक अधिकारियों तथा अन्य सभी बुद्धिजीवियों से आग्रह है कि वे इस पत्रिका हेतु शिक्षा, प्रौढ़ एवं आजीवन शिक्षा, सामुदायिक शिक्षा, स्वयंसेवी प्रयास, महिला सशक्तीकरण, विकास, कौशल विकास, पर्यावरण, स्वास्थ्य, बाल विकास, सामाजिक समता, आर्थिक सशक्तीकरण जैसे तमाम विषयों पर अपने मौलिक लेख, शोध पत्र, संस्मरण, घटना वृतांत, कहानियां एवं कविताएं प्रेषित करें।

लेख एवं शोध न्यूनतम 3000 से 5000 शब्दों के हो सकते हैं। लेखक अपनी रचनाएं हिन्दी के कृतिदेव 10 फोंट में टाईप कर उसकी ओपन फाईल directoriaea@gmail.com पर मेल कर सकते हैं।